प्रेम-तीर्थ

लेखक

प्रेमचन्द

प्रकाशक

सरस्वती-प्रेस, बनारस कैंट ।

चतुर्थ	मूल्य	सन्
संस्करण	१॥)	१९४१

मुद्रक
श्रीपतराय,
सरस्वती-प्रेस, बनारस कैण्ट।

अनुक्रम

मन्दिर

(१)

मातृ-प्रेम ! तुझे धन्य है। संसार में और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है। मातृ-प्रेम ही सत्य है, अक्षय है, अनश्वर है। तीन दिन से सुखिया के मुँह में अन्न का न एक दाना गया था, न पानी की एक बूँद। सामने पुआल पर माता का नन्हा-सा लाल पड़ा कराह रहा था। आज तीन दिन से उसने आँखें खोली थीं। कभी उसे गोद में उठा लेती, कभी पुआल पर सुला देती। हँसते-खेलते बालक को अचानक क्या हो गया, यह कोई नहीं बताता था। ऐसी दशा में माता को भूख और प्यास कहाँ ? एक बार पानी का एक घूँट मुँह में लिया था; पर कण्ठ के नीचे न ले जा सकी। इस दुखिया की विपत्ति का वारपार न था। साल भर के भीतर दो बालक गङ्गा की गोद में सौंप चुकी थी। पतिदेव पहले ही सिधार चुके थे। अब उस अभागिनी के जीवन का आधार, अवलम्ब, जो कुछ था यही बालक था। हाय ! क्या ईश्वर इसे भी उसकी गोद से छीन लेना चाहते हैं ?—यह कल्पना करते ही माता की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते थे। इस बालक को वह एक क्षण भर के लिए भी अकेला न छोड़ती थी। उसे साथ लेकर घास छीलने जाती। घास बेचने बाजार जाती, तो बालक

गोद में होता। उसके लिए उसने एक नन्हीं-सी खुरपी और नन्ही-सी खाँची बनवा दी थी। जियावन माता के साथ घास छीलता और गर्व से कहता—अम्माँ, हमें भी बड़ी-सी खुरपी बनवा दो, हम बहुत-सी घास छीलेंगे; तुम द्वारे माची पर बैठी रहना अम्माँ, मैं घास बेच लाऊँगा। मा पूछती—हमारे लिए क्या-क्या लाओगे बेटा? जियावन लाल-लाल साड़ियों का का वादा करता। अपने लिए बहुत-सा गुड़ लाना चाहता था। वे ही भोली-भोली बातें इस समय याद आ-आकर माता के हृदय को शूल के समान बेध रही थीं। जो बालक को देखता, यही कहता—किसी की डीठ है; पर किसकी डीठ है? इस बिधवा का भी संसार में कोई बैरी है? अगर उसका नाम मालूम हो जाता, तो सुखिया जाकर उसके चरणों पर गिर पड़ती और बालक को उसकी गोद में रख देती। क्या उसका हृदय दया से न पिघल जाता? पर नाम कोई नहीं बताता। हाय! किससे पूछे, क्या करे?

(२)

तीन पहर रात बीत चुकी थी। सुखिया का चिन्ता-व्यथित, चञ्चल मन कोठे-कोठे दौड़ रहा था। किस देवी की शरण जाय, किस देवता की मनौती करे, इसी सोच में पड़े-पड़े उसे एक झपकी आ गई। क्या देखती है कि उसका स्वामी आकर बालक के सिरहाने खड़ा हो जाता है और बालक के सिर पर हाथ फेरकर कहता है—रो मत सुखिया, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। कल ठाकुरजी की पूजा कर दे, वही तेरे सहाय होंगे। यह कह-कर वह चला गया। सुखिया की आँख खुल गई। अवश्य ही उसके पतिदेव आये थे, इसमें सुखिया को जरा भी सन्देह न हुआ। उन्हें अब भी मेरी सुधि है, यह सोचकर उसका हृदय आशा से परिप्लावित हो उठा। पति के प्रति श्रद्धा और प्रेम से

उसकी आँखें सजल हो गईं। उसने बालक को गोद में उठा लिया और आकाश की ओर ताकती हुई बोली—भगवन्! मेरा बालक अच्छा हो जाय, मैं तुम्हारी पूजा करूँगी। अनाथ विधवा पर दया करो।

उसी समय जियावन की आँखें खुल गईं। उसने पानी माँगा। माता ने दौड़कर कटोरे में पानी लिया और बच्चे को पिला दिया।

जियावन ने पानी पीकर कहा—अम्माँ, रात है कि दिन?

सुखिया—अभी तो रात है बेटा, तुम्हारा जी कैसा है?

जियावन—अच्छा है अम्माँ। अब मैं अच्छा हो गया।

सुखिया—तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर हो बेटा, भगवान् करे तुम जल्द अच्छे हो जाओ। कुछ खाने को जी चाहता है?

जियावन—हाँ अम्माँ, थोड़ा-सा गुड़ दे दो।

सुखिया—गुड़ मत खाओ भैया, अवगुन करेगा। कहो तो खिचड़ी बना दूँ।

जियावन—नहीं मेरी अम्माँ, ज़रा-सा गुड़ दे दो, तो तेरे पैरों पड़ूँ।

माता इस आग्रह को न टाल सकी। उसने थोड़ा-सा गुड़ निकालकर जियावन के हाथ में रख दिया और हाँड़ी का ढक्कन लगाने जा रही थी कि किसी ने बाहर से आवाज़ दी। हाँड़ी वहीं छोड़कर वह किवाड़ खोलने चली गई। जियावन ने गुड़ की दो पिण्डियाँ निकाल लीं और जल्दी-जल्दी चट कर गया।

(३)

दिन भर जियावन की तबीयत अच्छी रही। उसने थोड़ी-सी खिचड़ी खाई, दो-एक बार धीरे-धीरे द्वार पर भी आया और हमजोलियों के साथ खेल न सकने पर भी, उन्हें खेलते देखकर उसका जी बहल गया। सुखिया ने समझा, बच्चा अच्छा हो

ठण्ढ पड़ रही थी, सुखिया खड़ी काँप रही थी और यहाँ धर्म के ठीकेदार लोग समय की गति पर आलोचनाएँ कर रहे थे। बच्चा मारे ठण्ढ के उसकी छाती में घुसा जाता था; किन्तु सुखिया वहाँ से हटने का नाम न लेती थी। ऐसा मालूम होता था कि उसके दोनो पाँव भूमि में गड़ गये हैं। रह-रहकर उसके हृदय में ऐसा उद्‍गार उठता था कि जाकर ठाकुरजी के चरणों पर गिर पड़े। ठाकुरजी क्या इन्हीं के हैं, हम गरीबों का उनसे कोई नाता नहीं है, ये लोग कौन होते हैं रोकनेवाले; पर यह भय होता था कि इन लोगों ने कहीं सचमुच थाली-वाली फेंक दी, तो क्या करूँगी? दिल में ऐंठकर रह जाती थी। सहसा उसे एक बात सूझी। वह वहाँ से कुछ दूर जाकर एक वृक्ष के नीचे अन्धेरे में छिपकर इन भक्तजनों के जाने की राह देखने लगी।

(४)

आरती और स्तुति के पश्चात् भक्तजन बड़ी देर तक श्रीमद्‍भागवत का पाठ करते रहे। उधर पुजारीजी ने चूल्हा जलाया और खाना पकाने लगे। चूल्हे के सामने बैठे हुए 'हूँ हूँ' करते जाते थे और बीच-बीच में टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। दस बजे रात तक कथा-वार्ता होती रही और सुखिया वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में खड़ी रही।

बारे भक्त लोगों ने एक-एक करके घर की राह ली। पुजारीजी अकेले रह गये। तब सुखिया आकर मन्दिर के बरामदे के सामने खड़ी हो गई, जहाँ पुजारीजी आसन जमाये बटलोई का क्षुधावर्धक मधुर संगीत सुनने में मग्न थे। पुजारीजी ने आहट पाकर गरदन उठाई, तो सुखिया को खड़ी देखा। चिढ़कर बोले—क्यों रे, तू अभी यहीं खड़ी है?

सुखिया ने थाली जमीन पर रख दी और एक हाथ फैलाकर

भिक्षा-प्रार्थना करती हुई बोली—महाराजजी, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। यही बालक मेरे जीवन का अलम है, मुझ पर दया करो। तीन दिन से इसने सिर नहीं उठाया। तुम्हें बड़ा जस होगा महाराजजी!

यह कहते-कहते सुखिया रोने लगी। पुजारीजी दयालु तो थे; पर चमारिन को ठाकुरजी के समीप जाने देने का अश्रुत-पूर्व, घोर पातक वह कैसे कर सकते? न जाने ठाकुरजी इसका क्या दण्ड दें। आखिर उनके भी तो बाल-बच्चे थे। कहीं ठाकुरजी कुपित होकर गाँव का सर्वनाश कर दें, तो! बोले—घर जाकर भगवान् का नाम ले, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। मैं यह तुलसीदल देता हूँ, बच्चे को खिला दे, चरणामृत उसकी आँखों में लगा दे। भगवान् चाहेंगे, तो सब अच्छा ही होगा।

सुखिया—ठाकुरजी के चरणों पर गिरने न दोगे महाराजजी? बड़ी दुखिया हूँ, उधार काढ़कर पूजा की सामग्री जुटाई है। मैंने कल सपना देखा था महाराज, कि ठाकुरजी की पूजा कर, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। तभी दौड़ी आई हूँ। मेरे पास एक रुपया है। वह मुझसे ले लो; पर मुझे एक छन-भर ठाकुरजी के चरनों पर गिर लेने दो।

इस प्रलोभन ने पण्डितजी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया; किन्तु मूर्खता के कारण ईश्वर का भय उनके मन में कुछ-कुछ बाक़ी था। सँभलकर बोले—अरी पगली, ठाकुरजी भक्तों के मन का भाव देखते हैं कि चरन पर गिरना देखते हैं। सुना नहीं है—'मन चङ्गा तो कठौत में गङ्गा'। मन में भक्ति न हो, तो लाख कोई भगवान् के चरनों पर गिरे, कुछ न होगा। मेरे पास एक जन्तर है। दाम तो उसका बहुत है; पर तुम्हें एक ही रुपए में दे दूँगा। उसे बच्चे के गले में बाँध देना। बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।

सुखिया—तो ठाकुरजी । पूजा न करने दोगे ?

पुजारी—तेरे लिए इतनी ही पूजा बहुत है। जो बात कभी नहीं हुई, वह आज मैं कर दूँ और गाँव पर कोई आफ़त-विपत पड़े, तो क्या हो, इसे भी तो सोच ! तू यह जन्तर ले जा, भगवान् चाहेंगे, तो रात ही भर में बच्चे का क्लेश कट जायगा। किसी की डीठ पड़ गई है। है भी तो चोंचाल। मालूम होता है, छत्तरी बंस है।

सुखिया—जब से इसे जर आया है, मेरे प्रान नहों में समाये हुए हैं।

पुजारी—बड़ा होनहार बालक है। भगवान् जिला दें, तो तेरे सारे सङ्कट हर लेगा। यहाँ तो बहुत खेलने आया करता था। इधर दो-तीन दिन से नहीं देखा था।

सुखिया—तो जन्तर को कैसे बाँधूँगी महाराज ?

पुजारी—मैं कपड़े में बाँधकर देता हूँ। बस गले में पहना देना। अब तू इस बेला नवीन बस्तर कहाँ खोजने जायगी।

सुखिया ने दो रुपए पर कड़े गिरों रखे थे। एक पहले ही भँज चुका था। दूसरा पुजारीजी की भेंट किया और जन्तर लेकर मन को समझाती हुई घर लौट आई।

(५)

सुखिया ने घर पहुँचकर बालक के गले में यन्त्र बाँध दिया; पर ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी, उसका ज्वर भी बढ़ता जाता था, यहाँ तक कि तीन बजते-बजते उसके हाथ-पाँव शीतल होने लगे। तब तो वह घबड़ा उठी और सोचने लगी—हाय ! मैं व्यर्थ ही सङ्कोच में पड़ी रही और बिना ठाकुरजी के दर्शन किये चली आई। अगर मैं अन्दर चली जाती और भगवान के चरणों पर गिर पड़ती, तो कोई मेरा क्या कर लेता ? यही न होता, लोग मुझे धक्के देकर निकाल देते, शायद मारते भी ;

पर मेरा मनोरथ तो पूरा हो जाता। यदि मैं ठाकुरजी के चरणों को अपने आँसुओं से भिगो देती और बच्चे को उनके चरणों में सुला देती, तो क्या उन्हें दया न आती ? वह तो दयामय भगवान् हैं, दीनों की रक्षा करते हैं, क्या मुझ पर दया न करते ? यह सोचकर सुखिया का मन अधीर हो उठा। नहीं, अब विलम्ब करने का समय न था। वह अवश्य जायगी और ठाकुरजी के चरणों पर गिरकर रोयेगी। उस अबला के आशंकित हृदय को अब इसके सिवा और कोई अवलम्ब, कोई आश्रय न था। मन्दिर के द्वार बन्द होंगे, तो वह ताले को तोड़ डालेगी। ठाकुरजी क्या किसी के हाथों बिक गये हैं कि कोई उन्हें बन्द कर रखे !

रात के तीन बज गये थे। सुखिया ने बालक को कम्मल से ढाँपकर गोद में उठाया, एक हाथ में थाली उठाई और मन्दिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल वायु के झोंकों से उसका कलेजा काँपने लगा। शीत से पाँव शिथिल हुए जाते थे। उस पर चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। रास्ता दो फरलाँग से कम न था। पगडण्डी वृक्षों के नीचे-नीचे गई थी। कुछ दूर दाहनी ओर एक पोखरा था, कुछ दूर बाँस की कोठियाँ। पोखरे में एक धोबी मर गया था और बाँस की कोठियों में चुड़ैलों का अड्डा था। बाईं ओर हरे-भरे खेत थे। चारो ओर सन-सन हो रहा था, अन्धकार साँय-साँय कर रहा था। सहसा गीदड़ों ने कर्कश स्वर से हुँआ-हुँआ करना शुरू किया। हाय ! अगर कोई उसे एक लाख रुपए देता, तो भी इस समय वह यहाँ न आती; पर बालक की ममता सारी शंकाओं को दबाये हुए थी। 'हे भगवान् ! अब तुम्हारा ही आसरा है !' यही जपती वह मन्दिर की ओर चली जा रही थी।

मन्दिर के द्वार पर पहुँचकर सुखिया ने जञ्जीर टटोलकर देखी। ताला पड़ा हुआ था। पुजारीजी बरामदे से मिली हुई कोठरी में किवाड़ बन्द किये सो रहे थे। चारो ओर अँधेरा छाया हुआ था। सुखिया चबूतरे के नीचे से एक ईंट उठा लाई और जोर-जोर से ताले पर पटकने लगी। उसके हाथों में न जाने इतनी शक्ति कहाँ से आ गई थी। दो ही तीन चोटों में ताला और ईंट दोनो टूटकर चौखट पर गिर पड़े। सुखिया ने द्वार खोल दिया और अन्दर जाना ही चाहती थी कि पुजारी किवाड़ खोलकर हड़बड़ाये हुए बाहर निकल आये और 'चोर! चोर!' का गुल मचाते गाँव की ओर दौड़े। जाड़ों में प्रायः पहर रात रहे ही लोगों की नींद खुल जाती है। यह शोर सुनते ही कई आदमी इधर-उधर से लालटेनें लिये हुए निकल पड़े और पूछने लगे—कहाँ है, कहाँ! किधर गया?

पुजारी—मन्दिर का द्वार खुला पड़ा है। मैंने खट-खट की आवाज सुनी।

सहसा सुखिया बरामदे से निकलकर चबूतरे पर आई और बोली—चोर नहीं है, मैं हूँ; ठाकुरजी की पूजा करने आई थी। अभी तो अन्दर गई भी नहीं। मार हल्ला मचा दिया।

पुजारी ने कहा—अब अनर्थ हो गया। सुखिया मन्दिर में जाकर ठाकुरजी को भ्रष्ट कर आई।

फिर क्या था, कई आदमी झल्लाये हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूँसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक एक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी जोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूटकर जमीन पर गिर पड़ा; मगर न वह रोया, न बोला, न साँस ली। सुखिया भी गिर पड़ी थी। सँभलकर बच्चे को उठाने लगी, तो उसके मुख पर

नज़र पड़ी। ऐसा जान पड़ा, मानो पानी में परछाईं हो। उसके मुँह से एक चीख़ निकल गई। बच्चे का माथा छूकर देखा। सारी देह ठण्ढी हो गई थी। एक लम्बी साँस खींचकर वह उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों में आँसू न आये। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों से अंगारे बरसने लगे। दोनो मुट्ठियाँ बँध गईं। दाँत पीसकर बोली—पापियो, मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यों खड़े हो? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते? मेरे छू लेने से ठाकुरजी को छूत लग गई। पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता। मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जायँगे! मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी? लो, अब कभी ठाकुरजी को छूने नहीं आऊँगी। ताले में बन्द करके रखो, पहरा बैठा दो। हाय, तुम्हें दया छू भी नहीं गई! तुम इतने कठोर हो! बाल-बच्चे-वाले होकर भी तुम्हें एक अभागिनी माता पर दया न आई? तिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो! तुम सब के सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे हो। डरो मत, मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊँगी, मेरा न्याय भगवान करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फ़िरियाद करूँगी।

किसी ने चूँ न की, कोई मिनमिनाया तक नहीं। पाषाण-मूर्तियों की भाँति सब के सब सिर झुकाये खड़े रहे।

इतनी देर में सारा गाँव जमा हो गया था। सुखिया ने एक बार फिर बालक के मुँह की ओर देखा। मुँह से निकला—हाय मेरे लाल! फिर वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। प्राण निकल गये। बच्चे के लिए प्राण दे दिये।

माता, तू धन्य है! तुझ जैसी निष्ठा, तुझ जैसी श्रद्धा, तुझ जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है!

निमन्त्रण

पण्डित मोटेराम शास्त्री ने अन्दर जाकर अपने विशाल उदर पर हाथ फेरते हुए यह पद पञ्चम स्वर में गाया—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम,
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम !

सोना ने प्रफुल्लित होकर पूछा—कोई मीठी ताज़ी ख़बर है क्या ?

शास्त्रीजी ने पैंतरे बदलकर कहा—मार लिया आज। ऐसा ताककर मारा कि चारो ख़ाने चित। सारे घर का नेवता ! सारे घर का ! वह बढ़-बढ़कर हाथ मारूँगा कि देखनेवाले दंग रह जायँ। उदर महाराज अभी से अधीर हो रहे हैं।

सोना—कहीं पहले की भाँति अब की भी धोखा न हो। पक्का पोढ़ा कर लिया है न ?

मोटेराम ने मूँछें ऐंठते हुए कहा—ऐसा असगुन मुँह से न निकालो। बड़े जप-तप के बाद यह शुभ दिन आया है। जो तैयारियाँ करनी हों, कर लो।

सोना—वह तो करूँगी ही। क्या इतना भी नहीं जानती ? जन्म भर घास थोड़े ही खोदती रही हूँ; मगर है घर भर का न ?

मोटेराम—अब और कैसे कहूँ? पूरे घर भर का है। इसका अर्थ समझ में न आया हो तो मुझसे पूछो। विद्वानों की बात समझना सबका काम नहीं। अगर उनकी बात सभी समझ लें, तो उनकी विद्वत्ता का महत्त्व ही क्या रहे। बताओ क्या समझीं? मैं इस समय बहुत ही सरल भाषा में बोल रहा हूँ; मगर तुम नहीं समझ सकीं। बताओ, 'विद्वत्ता' किसे कहते हैं? 'महत्त्व' ही का अर्थ बताओ। घर भर का निमन्त्रण देना क्या दिल्लगी है! हाँ, ऐसे अवसर पर विद्वान् लोग राजनीति से काम लेते हैं और उसका वही आशय निकालते हैं, जो अपने अनुकूल हो। मुरादपुर की रानी साहब सात ब्राह्मणों को इच्छापूर्ण भोजन कराना चाहती हैं। कौन-कौन महाशय मेरे साथ जायँगे, यह निर्णय करना मेरा काम है। अलगूराम शास्त्री, बेनीराम शास्त्री, छेदीराम शास्त्री, भवानीराम शास्त्री, फेकूराम शास्त्री, और मोटेराम शास्त्री आदि जब इतने आदमी अपने घर ही में, तब बाहर कौन ब्राह्मणों को खोजने जाय।

सोना—और सातवाँ कौन है?

मोटे०—बुद्धि को दौड़ाओ।

सोना—एक पत्तल घर लेते आना।

मोटे०—फिर वही बात कही जिसमें बदनामी हो। छीः छीः, पत्तल घर लाऊँ। उस पत्तल में वह स्वाद कहाँ, जो यजमान के घर बैठकर भोजन करने में है। सुनो, सातवें महाशय हैं—पण्डित सोनाराम शास्त्री।

सोना—चलो, दिल्लगी करते हो। भला मैं कैसे जाऊँगी?

मोटे०—ऐसे ही कठिन अवसरों पर तो विद्या की आवश्यकता पड़ती है। विद्वान् आदमी अवसर को अपना सेवक बना लेता है, मूर्ख अपने भाग्य को रोता है। सोना देवी और सोनाराम शास्त्री में क्या अन्तर है, जानती हो? केवल परिधान

का। परिधान का अर्थ समझती हो? परिधान 'पहनाव' को कहते हैं। इसी साड़ी को मेरी तरह बाँध लो, मेरी मिरज़ई पहन लो, ऊपर से चादर ओढ़ लो। पगड़ी मैं बाँध दूँगा। फिर कौन पहचान सकता है!

सोना ने हँसकर कहा—मुझे तो लाज लगेगी।

मोटे०—तुम्हें करना ही क्या है? बातें तो हम करेंगे।

सोना ने मन ही मन आनेवाले पदार्थों का आनन्द लेकर कहा—बड़ा मज़ा होगा!

मोटे०—बस, अब विलम्ब न करो। तैयारी कर चलो।

सोना—कितनी फंकी बना लूँ?

मोटे०—यह मैं नहीं जानता। बस यही आदर्श सामने रखो कि अधिक से अधिक लाभ हो।

सहसा सोनादेवी को एक बात याद आ गई। बोली—अच्छा, इन बिछुओं को क्या करूँगी?

मोटेराम ने त्योरी चढ़ाकर कहा—इन्हें उठाकर रख देना, और क्या करोगी!

सोना—हाँ जी, क्यों नहीं। उतारकर रख क्यों न दूँगी!

मोटे०—तो क्या तुम्हारे बिछुए पहनने ही से मैं जी रहा हूँ? जीता हूँ पौष्टिक पदार्थों के सेवन से। तुम्हारे बिछुओं के पुण्य से नहीं जीता।

सोना—नहीं भाई, मैं बिछुए न उतारूँगी।

मोटेराम ने सोचकर कहा—अच्छा, पहने चलो। कोई हानि नहीं। गोवर्द्धनधारी यह बाधा भी हर लेंगे। बस, पाँव में बहुत से कपड़े लपेट लेना। मैं कह दूँगा, इन पण्डितजी को पीलपाँव हो गया है। क्यों कैसी सूझी?

पण्डिताइन ने पतिदेव को प्रशंसा-सूचक नेत्रों से देखकर कहा—जन्म भर पढ़ा नहीं है।

(२)

सन्ध्या-समय पण्डितजी ने पाँचों पुत्रों को बुलाया और उपदेश देने लगे—पुत्रो, कोई काम करने के पहले ख़ूब सोच-समझ लेना चाहिये कि कैसे क्या होगा। मान लो, रानी साहब ने तुम लोगों का पता-ठिकाना पूछना आरम्भ किया, तो तुम लोग क्या उत्तर दोगे। यह तो महान् मूर्खता होगी कि तुम सब मेरा नाम लो। सोचो, कितने कलंक और लज्जा की बात होगी कि मुझ-जैसा विद्वान् केवल भोजन के लिए बड़ा कुचक्र रचे। इसलिए, तुम सब थोड़ी देर के लिए भूल जाओ कि मेरे पुत्र हो। कोई मेरा नाम न बतलाये। संसार में नामों की कमी नहीं, कोई अच्छा-सा नाम चुनकर बता देना। पिता का नाम बदल देने से कोई गाली नहीं लगती। यह कोई अपराध नहीं।

अलगू—आप ही न बता दीजिये।

मोटे०—अच्छी बात है, बहुत अच्छी बात है। हाँ इतने महत्त्व का काम मुझे स्वयं करना चाहिये। अच्छा सुनो—अलगूराम के पिता का नाम है पण्डित केशव पाँड़े, ख़ूब याद कर लो। बेनीराम के पिता का नाम पण्डित मँगरू ओझा, ख़ूब याद रखना। छेदीराम के पिता हैं, पण्डित दमड़ी तिवारी, भूलना नहीं। भवानी, तुम गंगू पाँड़े बतलाना, ख़ूब याद कर लो। अब रहे फेकूराम, तुम बेटा बतलाना सेतूराम पाठक। हो गये सब! हो गया सबका नाम-करण। अच्छा, अब मैं परीक्षा लूँगा। होशियार रहना। बोलो अलगू, तुम्हारे पिता का क्या नाम है?

अलगू—पण्डित केशव पाँड़े?

'बेनीराम, तुम बताओ।'

'दमड़ी तिवारी।'

छेदी--यह तो मेरे पिता का नाम है।

बेनी--मैं तो भूल गया।

मोटे०--भूल गये ! पण्डित के पुत्र होकर तुम एक नाम भ नहीं याद रख सकते। बड़े दुःख की बात है ! मुझे पाँचों ना याद है, तुम्हें एक नाम भी याद नहीं ! सुनो, तुम्हारे पिता क नाम है पण्डित मँगरू ओझा।

पण्डितजी लड़कों की परीक्षा ले ही रहे थे कि उनके परम मित्र पण्डित चिन्तामणिजी ने द्वार पर आवाज़ दी। पण्डित मोटेराम ऐसे घबराये कि सिर-पैर की सुधि न रही। लड़कों को भगाना ही चाहते थे कि पण्डित चिन्तामणि अन्दर चले आये दोनो सज्जनों में बचपन से ही गाढ़ी मैत्री थी। दोनो बहुधा साथ साथ भोजन करने जाया करते थे, और यदि पण्डित मोटेराम अव्वल रहते, तो पण्डित चिन्तामणि के द्वितीय पद मे कोई बाधक न हो सकता था ; पर आज मोटेरामजी अपने मित्र को साथ नहीं ले जाना चाहते थे। उनको साथ ले जाना, अपने घरवालों में से किसी एक को छोड़ देना था और इतना महान आत्मत्याग करने के लिए वे तैयार न थे।

चिन्तामणि ने यह समारोह देखा, तो प्रसन्न होकर बोले— क्यों भाई, अकेले ही अकेले ! मालूम होता है, आज कहीं गहरा हाथ मारा है।

मोटेराम ने मुँह लटकाकर कहा--कैसी बातें करते हो मित्र। ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि मुझे कोई सुअवसर मिला हो और मैंने तुम्हें सूचना न दी हो। कदाचित कुछ समय ही बदल गया, या किसी ग्रह का फेर है। कोई झूठ को भी नहीं बुलाता।

पण्डित चिन्तामणि ने अविश्वास के भाव से कहा—कोई न कोई बात तो मित्र अवश्य है, नहीं तो ये बालक क्यों जमा हैं !

मोटे०—तुम्हारी इन्हीं बातों पर मुझे क्रोध आता है। लड़कों की परीक्षा ले रहा हूँ। ब्राह्मण के बालक हैं। चार अक्षर पढ़े बिना इनको कौन पूछेगा ?

चिन्तामणि को अब भी विश्वास न आया। उन्होंने सोचा—लड़कों से ही इस बात का पता लग सकता है। फेकूराम सबसे छोटा था। उसी से पूछा—क्या पढ़ रहे हो बेटा ? हमें भी सुनाओ।

मोटेराम ने फेकूराम को बोलने का अवसर न दिया। डरे कि यह तो सारा भंडा फोड़ देगा। बोले—यह अभी क्या पढ़ेगा। दिन भर खेलता है। फेकूराम इतना बड़ा अपराध अपने नन्हें-से सिर पर क्यों लेता। बाल-सुलभ गर्व से बोला—हमको तो याद है, पण्डित सेतूराम पाठक। हम पाठ भी याद कर लें, तिस पर भी कहते हैं, हरदम खेलता है ?

यह कहते हुए फेकूराम ने रोना शुरू किया।

चिन्तामणि ने बालक को गले लगा लिया और बोले—नहीं बेटा, तुमने अपना पाठ सुना दिया है। तुम खूब पढ़ते हो। यह सेतूराम पाठक कौन हैं बेटा ! मोटेराम ने बिगड़कर कहा—तुम भी लड़कों की बातों में आते हो। सुन लिया होगा किसी का नाम। (फेकू से) जा बाहर खेल !

चिन्तामणि अपने मित्र की घबराहट देखकर समझ गये कि कोई-न-कोई रहस्य अवश्य है। बहुत दिमाग लड़ाने पर भी सेतूराम पाठक का आशय उनकी समझ में न आया। अपने परम मित्र की इस कुटिलता पर मन में दुखित होकर बोले—अच्छा, आप पाठ पढ़ाइये और परीक्षा लीजिए। मैं जाता हूँ। तुम इतने स्वार्थी हो, इसका मुझे गुमान तक न था। आज तुम्हारी मित्रता की परीक्षा हो गई।

पण्डित चिन्तामणि बाहर चले गये। मोटेरामजी के पास

उन्हें मनाने के लिए समय न था। फिर परीक्षा लेने लगे।

सोना ने कहा—मना लो, मना लो। रूठे जाते हैं। परीक्षा फिर ले लेना।

मोटे०—जब कोई काम पड़ेगा, मना लूँगा। निमन्त्रण की सूचना पाते ही इनका सारा क्रोध शान्त हो जायगा। हाँ भवानी, तुम्हारे पिता का क्या नाम है, बोलो?

भवानी—गंगू पाँड़े।

मोटे०—और तुम्हारे पिता का नाम फेकू?

फेकू—बता तो दिया, उस पर कहते हैं पढ़ता नहीं?

मोटे०—हमें भी बता दो।

फेकू—सेतूराम पाठक तो है?

मोटे०—बहुत ठीक, हमारा लड़का बड़ा राजा है। आज तुम्हें अपने साथ बैठाएँगे और सबसे अच्छा माल तुम्हीं को खिलाएँगे।

सोना—हमें भी तो कोई नाम बता दो।

मोटेराम ने रसिकता से मुसकराकर कहा—तुम्हारा नाम है पण्डित मोहनसरूप सुकुल।

सोनादेवी ने लजाकर सिर झुका लिया।

(३)

सोनादेवी तो लड़कों को कपड़े पहनाने लगीं। उधर फेकू आनन्द की उमङ्ग में घर से बाहर निकला। पण्डित चिन्तामणि रूठकर तो चले थे; पर कुतूहलवश अभी तक द्वार पर दबके खड़े थे। जिन बातों की भनक इतनी देर में उनके कानों में पड़ी, उससे यह तो ज्ञात हो गया कि कहीं निमन्त्रण है; पर कहाँ है और कौन-कौन से लोग निमन्त्रित हैं, यह कुछ ज्ञात न हुआ था। इतने में फेकू बाहर निकला, तो उन्होंने उसे गोद में उठा लिया और बोले—कहाँ नेवता है बेटा?

अपनी जान में तो उन्होंने बहुत धीरे से पूछा था ; पर न जाने कैसे पण्डित मोटेराम के कान में भनक पड़ गई। तुरन्त बाहर निकल आये। देखा, तो चिन्तामणिजी फेकू को गोद में लिये कुछ पूछ रहे हैं। लपककर लड़के का हाथ पकड़ लिया और चाहा कि उसे अपने मित्र की गोद से छीन लें ; मगर चिन्तामणिजी को अभी अपने प्रश्न का उत्तर न मिला था। अतएव, वे लड़के का हाथ छुड़ाकर उसे लिये हुए अपने घर की ओर भागे। मोटेराम भी यह कहते हुए उनके पीछे दौड़े— उसे क्यों लिये जाते हो ? धूर्त कहीं का, दुष्ट ! चिन्तामणि, मैं कहे देता हूँ, इसका नतीजा अच्छा न होगा, फिर कभी किसी निमन्त्रण में न ले जाऊँगा। भला चाहते हो, तो उसे उतार दो...। मगर, चिन्तामणि ने एक न सुनी। भागते ही चले गये। उनकी देह अभी सँभाल के बाहर न हुई थी, दौड़ सकते थे ; मगर मोटेरामजी को एक-एक पग आगे बढ़ना दुस्तर हो रहा था। भैंसे की भाँति हाँफते थे और नाना प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते दुलकी चाल से चले जाते थे, और यद्यपि प्रतिक्षण अन्तर बढ़ता जाता था ; पर पीछा न छोड़ते थे। अच्छी घुड़दौड़ की। नगर के दो महात्मा दौड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो गैंडे चिड़िया-घर से भाग आये हों। सैकड़ों आदमी तमाशा देखने लगे। कितने ही बालक उनके पीछे तालियाँ बजाते हुए दौड़े। कदाचित् यह दौड़ पण्डित चिन्तामणि के घर ही पर समाप्त होती ; पर पण्डित मोटेराम धोती के ढीली हो जाने के कारण उलझकर गिर पड़े। चिन्तामणि ने पीछे फिरकर यह दृश्य देखा, तो रुक गये और फेकूराम से पूछा—क्यों बेटा, कहाँ नेवता है ?

फेकू—बता दें तो हमें मिठाई दोगे न ?

चिन्ता०—हाँ, दूँगा बताओ।

फेकू—रानी के यहाँ।

चिन्ता०—कहाँ की रानी?

फेकू—यह मैं नहीं जानता। कोई बड़ी रानी हैं।

नगर में कई बड़ी-बड़ी रानियाँ थीं। पण्डितजी ने सोचा—सभी रानियों के द्वार पर चक्कर लगाऊँगा। जहाँ भोज होगा, वहाँ कुछ भीड़भाड़ होगी ही, पता चल जायगा। यह निश्चय करके वे लौट पड़े। सहानुभूति प्रकट करने में अब कोई बाधा न थी। मोटेरामजी के पास आये, तो देखा कि वे पड़े कराह रहे हैं। उठने का नाम नहीं लेते। घबराकर पूछा—गिर कैसे पड़े मित्र, यहाँ कहीं गढ़ा भी तो नहीं है!

मोटे०—तुमसे क्या मतलब! तुम लड़के को ले जाओ, जो कुछ पूछना चाहो पूछो।

चिन्ता०—मैं यह कपट-व्यवहार नहीं करता। दिल्लगी की थी, तुम बुरा मान गये। ले उठ तो बैठो राम का नाम लेके। मैं सच कहता हूँ, मैंने कुछ नहीं पूछा।

मोटे०—चल झूठा!

चिन्ता०—जनेऊ हाथ में लेकर कहता हूँ।

मोटे०—तुम्हारी शपथ का विश्वास नहीं।

चिन्ता०—तम मुझे इतना धूर्त समझते हो?

मोटे०—इससे कहीं अधिक। तुम गंगा में डूबकर शपथ खाओ, तो भी मुझे विश्वास न आये।

चिन्ता०—दूसरा यह बात कहता, तो मूछ उखाड़ लेता।

मोटे०—तो फिर आ जाओ!

चिन्ता०—पहले पण्डिताइन से पूछ आओ।

मोटेराम यह भस्मक व्यंग्य न सह सके। झट उठ बैठे और पण्डित चिन्तामणि का हाथ पकड़ लिया। दोनो मित्रों में मल्ल-युद्ध होने लगा। दोनो हनूमानजी की स्तुति कर रहे थे और

इतने ज़ोर से गरज-गरजकर मानो सिंह दहाड़ रहे हों। बस ऐसा जान पड़ता था कि मानो दो पीपे आपस में टकरा रहे हैं।

मोटे०—महाबली विक्रम बजरंगी।

चिन्ता०—भूत-पिशाच निकट नहिं आवे।

मोटे०—जय जय जय हनुमान गुसाईं।

चिन्ता०—प्रभु, रखिए लाज हमारी।

मोटे०—(बिगड़कर) यह हनुमान-चालीसा में नहीं है।

चिन्ता०—यह हमने स्वयं रचा है। क्या तुम्हारी तरह की यह रटंत विद्या है! जितना कहो उतना रच दें।

मोटे०—अबे, हम रचने पर आ जायँ तो एक दिन में एक लाख स्तुतियाँ रच डालें; किन्तु इतना अवकाश किसे है!

दोनो महात्मा अलग खड़े होकर अपने-अपने रचना-कौशल की डींगें मार रहे थे। मल्ल-युद्ध शास्त्रार्थ का रूप धारण करने लगा, जो विद्वानों के लिए उचित है। इतने में किसी ने चिन्तामणिजी के घर जाकर कह दिया कि पण्डित मोटेराम और चिन्तामणिजी में बड़ी लड़ाई हो रही है। चिन्तामणिजी तीन महिलाओं के स्वामी थे। कुलीन ब्राह्मण थे, पूरे बीस बिस्वे। उस पर विद्वान् भी उच्चकोटि के, दूर-दूर तक यजमानी थी। ऐसे पुरुषों को सब अधिकार है। कन्या के साथ-साथ जब प्रचुर दक्षिणा भी मिलती हो, तब कैसे इनकार किया जाय। इन तीनों महिलाओं का सारे महल्ले में आतंक छाया हुआ था। पण्डितजी ने उनके नाम बहुत ही रसीले रक्खे थे। बड़ी स्त्री को 'अमिरती', मँझली को 'गुलाबजामुन' और छोटी को 'मोहनभोग, कहते थे; पर मुहल्लेवालों के लिए तीनों महिलाएँ त्रयताप-से कम न थीं। घर में नित्य आँसुओं की नदी बहती रहती—खून की नदी तो पण्डितजी ने भी कभी नहीं बहाई, अधिक-से-अधिक शब्दों की ही नदी बहाई थी; पर मजाल न थी कि बाहर

का आदमी किसी को कुछ कह जाय। संकट के समय तीनों एक हो जाती थीं। यह पण्डितजी के नीति-चातुर्य का सुफल था। ज्योंही खबर मिली कि पण्डित चिन्तामणि पर संकट पड़ा हुआ है, तीनों त्रिदोषों की भाँति कुपित होकर घर से निकलीं और उनमें जो अन्य दोनों-जैसी मोटी नहीं थी, सबसे पहले समर-भूमि के समीप जा पहुँची। पण्डित मोटेरामजी ने उसे आते देखा, तो समझ गये कि अब कुशल नहीं। अपना हाथ छुड़ाकर बगटुट भागे, पीछे फिर कर भी न देखा। चिन्तामणिजी ने बहुत ललकारा; पर मोटेराम के क़दम न रुके।

चिन्ता०—अजी भागे क्यों, ठहरो, कुछ मज़ा तो चखते जाओ!

मोटे०—मैं हार गया भाई, हार गया।

चिन्ता०—अजी कुछ दक्षिणा तो लेते जाओ।

मोटेराम ने भागते हुए कहा—दया करो भाई, दया करो।

(४)

आठ बजते-बजते पण्डित मोटेराम ने स्नान और पूजा करके कहा—अब विलम्ब नहीं करना चाहिये, फंकी तैयार है न?

सोना—फंकी लिये तो कब से बैठी हूँ, तुम्हें तो जैसे किसी बात की सुध ही नहीं रहती। रात को कौन देखता है कि कितनी देर पूजा करते हो।

मोटे०—मैं तुमसे एक नहीं, हजार बार कह चुका कि मेरे कामों में मत बोला करो। तुम नहीं समझ सकतीं कि मैंने इतना विलम्ब क्यों किया। तुम्हें ईश्वर ने इतनी बुद्धि ही नहीं दी। जल्दी जाने से अपमान होता है। यजमान समझता है, लोभी है, भुक्खड़ है। इसीलिए चतुर लोग विलम्ब किया करते हैं, जिसमें यजमान समझे कि पण्डितजी को इसकी सुध ही नहीं है, भूल गये होंगे। बुलाने को आदमी भेजें। इस प्रकार जाने

में जो मान-महत्त्व है, वह मरभुखों की तरह जाने में क्या कभी हो सकता है ? मैं बुलावे की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। कोई-न-कोई आता ही होगा। लाओ थोड़ी फङ्की। बालकों को खिला दी है न ?

सोना—उन्हें तो मैंने साँझ ही को खिला दी थी।

मोटे०—कोई सोया तो नहीं ?

सोना—आज भला कौन सोयेगा। सब भूख-भूख चिल्ला रहे थे, तो मैंने एक पैसे का चबेना मँगवा दिया। सब-के-सब ऊपर बैठे खा रहे हैं। सुनते नहीं हो, मारपीट हो रही है।

मोटेराम ने दाँत पीसकर कहा—जी चाहता है कि तुम्हारी गरदन पकड़ कर ऐंठ दूँ। भला इस बेला चबेना मँगाने का क्या काम था ? चबेना खा लेंगे, तो वहाँ क्या तुम्हारा सिर खाएँगे। छीः ! छीः !! जरा भी बुद्धि नहीं !

सोना ने अपराध स्वीकार करते हुए कहा—हाँ भूल तो हुई ; पर सब-के-सब इतना कोलाहल मचाये हुए थे कि सुना नहीं जाता था।

मोटे०—रोते ही थे न, रोने देती। रोने से उनका पेट न भरता ; बल्कि और भूख खुल जाती।

सहसा एक आदमी ने बाहर से आवाज दी—पण्डितजी, महारानी बुला रही हैं, और लोगों को लेकर जल्दी चलो।

पण्डितजी ने पत्नी की ओर गर्व से देखकर कहा—देखा, इसे निमन्त्रण कहते हैं। अब तैयारी करनी चाहिये।

बाहर आकर पण्डितजी ने उस आदमी से कहा—तुम एक क्षण और न आते, तो मैं कथा सुनाने चला गया होता। मुझे बिलकुल याद न थी। चलो, हम बहुत शीघ्र आते हैं।

(५)

नौ बजते-बजते पण्डित मोटेराम बाल-गोपाल-सहित रानी

साहब के द्वार पर जा पहुँचे। रानी बड़ी विशालकाय तेजस्विनी महिला थीं। इस समय वे कारचोबीदार तकिया लगाये तख्त पर बैठी हुई थीं। दो आदमी हाथ बाँधे पीछे खड़े थे। बिजली का पंखा चल रहा था। पण्डितजी को देखते ही रानी ने तख्त से उठकर चरण-स्पर्श किया, और इस बालक-मंडली को देखकर मुसकराती हुई बोलीं—इन बच्चों को आप कहाँ से पकड़ लाये ?

मोटे०—करता क्या, सारा नगर छान मारा; पर किसी पण्डित ने आना स्वीकार न किया। कोई किसी के यहाँ निमन्त्रित है, कोई किसी के यहाँ। तब तो मैं बहुत घबराया। अन्त में मैंने उनसे कहा—अच्छा, आप नहीं चलते तो हरि-इच्छा; लेकिन ऐसा कीजिये कि मुझे लज्जित न होना पड़े। तब ज़बरदस्ती प्रत्येक के घर से जो बालक मिला उसे पकड़ लाना पड़ा। क्यों फेकूराम, तुम्हारे पिताजी का क्या नाम है ?

फेकूराम ने गर्व से कहा—पण्डित सेतूराम पाठक।

रानी—बालक तो बड़ा होनहार है।

और बालकों को भी उत्कंठा हो रही थी कि हमारी परीक्षा भी ली जाय; लेकिन जब पण्डितजी ने उनसे कोई प्रश्न न किया, उधर रानी ने फेकूराम की प्रशंसा कर दी, तब तो वे अधीर हो उठे। भवानी बोला—मेरे पिता का नाम है पण्डित गंगू पाँड़े।

छेदी बोला—मेरे पिता का नाम है दमड़ी तिवारी।

बेनीराम ने कहा—मेरे पिता का नाम है पंडित मँगरू ओझा।

अलगूराम समझदार था। चुपचाप खड़ा रहा। रानी ने उससे पूछा—तुम्हारे पिता का क्या नाम है जी ?

अलगूराम को इस वक्त पिता का निर्दिष्ट नाम याद न आया। न यही सूझी कि कोई और नाम ले ले। हतबुद्धि-सा खड़ा

रहा। पण्डित मोटेराम ने जब उसकी ओर दाँत पीसकर देखा, तब रहा-सहा हवास भी गायब हो गया।

फेकू ने कहा--हम बता दें। भैया भूल गये।

रानी ने आश्चर्य से पूछा—क्या अपने पिता का नाम भूल गया? यह तो विचित्र बात देखी।

मोटेराम ने अलगू के पास जाकर कहा--कैसे है। अलगूराम बोल उठा—केशव पाँड़े।

रानी--तो अब तक क्यों चुप था?

मोटे०--कुछ ऊँचा सुनता है सरकार?

रानी—मैंने सामान तो बहुत-सा मँगवा रक्खा है। सब खराब होगा। लड़के क्या खाएँगे!

मोटे०—सरकार इन्हें बालक न समझें। इनमें जो सबसे छोटा है, वह दो पत्तल खाकर उठेगा।

(६)

जब सामने पत्तल पड़ गईं और भंडारी चाँदी के थालों में एक-से-एक उत्तम पदार्थ ला-लाकर परसने लगा, तब पण्डित मोटेरामजी की आँखें खुल गईं। उन्हें आये-दिन निमन्त्रण मिलते रहते थे; पर ऐसे अनुपम पदार्थ कभी सामने न आये थे। घी की ऐसी सोंधी सुगन्ध उन्हें कभी न मिली थी। प्रत्येक वस्तु से केवड़े और गुलाब की लपटें उड़ रही थीं, घी टपक रहा था। पण्डितजी ने सोचा—ऐसे पदार्थों से कभी पेट भर सकता है! मनों खा जाऊँ, फिर भी और खाने को जी चाहे। देवतागण इनसे उत्तम और कौन-से पदार्थ खाते होंगे? इनसे उत्तम पदार्थों की तो कल्पना भी नहीं हो सकती।

पण्डितजी को इस वक्त अपने परममित्र पण्डित चिन्तामणि की याद आई। अगर वे होते, तो रंग जम जाता। उनके बिना रंग फीका रहेगा। यहाँ दूसरा कौन है, जिससे लाग-डाट करूँ।

लड़के दो-दो पत्तलों में चें बोल जायँगे। सोना कुछ साथ देगी; मगर कब तक! चिन्तामणि के बिना रंग न गठेगा। वे मुझे ललकारेंगे, मैं उन्हें ललकारूँगा। उस उमंग में पत्तलों की कौन गिनती। हमारी देखा-देखी लड़के भी डट जायँगे। ओह, बड़ी भूल हो गई। यह ख़याल मुझे पहले न आया। रानी साहब से कहूँ, बुरा तो न मानेंगी। ऊँह! जो कुछ हो, एक बार ज़ोर तो लगाना ही चाहिये। तुरन्त खड़े होकर रानी साहब से बोले—सरकार! आज्ञा हो, तो कुछ कहूँ।

रानी—कहिये-कहिये महाराज, क्या किसी वस्तु की कमी है?

मोटे०—नहीं सरकार, किसी बात की नहीं। ऐसे उत्तम पदार्थ तो मैंने कभी देखे भी न थे। सारे नगर में आपकी कीर्ति फैल जायगी। मेरे एक परम मित्र पण्डित चिन्तामणिजी हैं, आज्ञा हो तो उन्हें भी बुला लूँ। बड़े विद्वान् कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं। उनके जोड़ का इस नगर में दूसरा नहीं है। मैं उन्हें निमन्त्रण देना भूल गया। अभी सुध आई है।

रानी—आपकी इच्छा हो, तो बुला लीजिये; मगर जाने-आने में देर होगी और भोजन परोस दिया गया है।

मोटे०—मैं अभी आता हूँ सरकार, दौड़ता हुआ जाऊँगा।

रानी—मेरी मोटर ले लीजिये।

जब पण्डितजी चलने को तैयार हुए, तब सोना ने कहा—तुम्हें आज क्या हो गया है जी! उसे क्यों बुला रहे हो?

मोटे०—कोई साथ देनेवाला भी तो चाहिये?

सोना—मैं क्या तुमसे दब जाती?

पण्डितजी ने मुसकराकर कहा—तुम जानती नहीं, घर की बात और है; दङ्गल की बात और। पुराना खिलाड़ी मैदान में जाकर जितना नाम करेगा, उतना नया पट्ठा नहीं कर सकता। वहाँ बल का काम नहीं, साहस का काम है। बस, यहाँ भी वही

हाल समझो। आज झण्डे गाड़ दूँगा। समझ लेना।

सोना—कहीं लड़के सो जायँ तो ?

मोटे०—और भूख खुल जायगी। जगा तो मैं लूँगा।

सोना—देख लेना, आज वह तुम्हें पछाड़ेगा। उसके पेट में तो शनीचर है।

मोटे०—बुद्धि की सर्वत्र प्रधानता रहती है। यह न समझो कि भोजन करने की कोई विद्या ही नहीं। इसका भी एक शास्त्र है, जिसे मथुरा के शनीचरानन्द महाराज ने रचा है। चतुर आदमी थोड़ी-सी जगह में गृहस्थी का सब सामान रख देता है। अनाड़ी बहुत-सी जगह में भी यही सोचता रहता है कि कौन वस्तु कहाँ रक्खूँ। गँवार आदमी पहले से ही हबक-हबककर खाने लगता है और चट एक लोटा पानी पीकर अफर जाता है। चतुर आदमी बड़ी सावधानी से खाता है, उसको कौर नीचे उतारने के लिए पानी की आवश्यकता नहीं पड़ती। देर तक भोजन करते रहने से वह सुपाच्य भी हो जाता है। चिन्तामणि मेरे सामने क्या ठहरेगा !

(७)

चिन्तामणिजी अपने आँगन में उदास बैठे हुए थे। जिस प्राणी को वह अपना परमहितैषी समझते थे, जिसके लिए वे अपने प्राण तक देने को तैयार रहते थे, उसी ने आज उनके साथ बेवफाई की। बेवफ़ाई ही नहीं की, उन्हें उठाकर दे मारा। पण्डित मोटेराम के घर से तो कुछ जाता न था। अगर वे चिन्तामणिजी को भी साथ लेते जाते, तो क्या रानी साहब उन्हें दुत्कार देतीं। स्वार्थ के आगे कौन किसको पूछता है ! उन अमूल्य पदार्थों की कल्पना करके चिन्तामणि के मुँह से लार टपकी पड़ती थी। अब सामने पत्तल आ गई होंगी ! अब थालों में अमिरतियाँ लिये भण्डारीजी आये होंगे ! ओहो, कितनी

सुन्दर, कोमल, कुरकुरी, रसीली, अमिरतियाँ होंगी ! अब बेसन के लड्डू आये होंगे। ओहो, कितने सुडौल मेवों से भरे हुए, घी से तरातर लड्डू होंगे। मुँह में रखते-ही-रखते घुल जाते होंगे, जीभ भी न डुलानी पड़ती होगी। अहा ! अब मोहनभोग आया होगा ! हाय रे दुर्भाग्य ! मैं यहाँ पड़ा सड़ रहा हूँ और वहाँ यह बहार है ! बड़े निर्दयी हो मोटेराम, तुमसे इस निष्ठुरता की आशा न थी।

अमिरतीदेवी बोली—तुम इतना दिल क्यों छोटा करते हो। पितृपक्ष तो आ ही रहा है, ऐसे-ऐसे न जाने कितने नेवते आवेंगे।

चिन्तामणि—आज किसी अभागे का मुँह देखकर उठा था। लाओ तो पत्रा, देखूँ, कैसा मुहूर्त्त है। अब नहीं रहा जाता। सारा नगर छान डालूँगा, कहीं तो पता चलेगा, नासिका तो दहनी चल रही है !

एकाएक मोटर की आवाज आई। उसके प्रकाश से पण्डितजी का सारा घर जगमगा उठा। वे खिड़की से झाँकने लगे, तो मोटेराम को मोटर से उतरते देखा। एक लम्बी साँस लेकर चारपाई पर गिर पड़े। मन में कहा कि दुष्ट भोजन करके अब यहाँ मुझसे बखान करने आया है ?

अमिरतीदेवी ने पूछा—कौन है डाढ़ीजार, इतनी रात को जगावत है !

मोटे०—हम हैं हम ! गाली न दो।

अमिरती—अरे दुर मुँहझौंसे, तै कौन है ! कहत है हम हैं हम ! को जाने तैं कौन हस ?

मोटे०—अरे हमारी बोली नहीं पहचानती हो। खूब पहचान लो। हम हैं, तुम्हारे देवर।

अमिरती—ऐ दुर तोरे मुँह में लूका लागे। तोर लहास उठे। हमार देवर बनत है डाढ़ीजार।

मोटे०—अरे हम हैं मोटेराम शास्त्री। क्या इतना भी नहीं पहचानतीं! चिन्तामणिजी घर में हैं?

अमिरती ने किवाड़ खोल दिया और तिरस्कार-भाव से बोली—अरे तुम थे! तो नाम क्यों नहीं बताते थे? जब इतनी गालियाँ खा लीं, तो बोल निकला। क्या है क्या?

मोटे०—कुछ नहीं, चिन्तामणिजी को शुभ संवाद देने आया हूँ। रानी साहब ने उन्हें याद किया है।

अमिरती—भोजन के बाद बुलाकर क्या करेंगी?

मोटे०—अभी भोजन कहाँ हुआ है! मैंने जब इनकी विद्या, कर्मनिष्ठा, सद्विचार की प्रशंसा की, तब मुग्ध हो गईं। मुझसे कहा कि उन्हें मोटर पर लाओ। क्या सो गये?

चिन्तामणि चारपाई पर पड़े-पड़े सुन रहे थे। जी में आता था, चलकर मोटेराम के चरणों पर गिर पड़ूँ। उनके विषय में अब तक जितने कुत्सित विचार उठे थे, सब लुप्त हो गये। ग्लानि का आविर्भाव हुआ। रोने लगे।

'अरे भाई, आते हो या सोते ही रहोगे!'—यह कहते हुए मोटेराम उनके सामने जाकर खड़े हो गये।

चिन्ता०—तब क्यों न ले गये? जब इतनी दुर्दशा कर लिये, तब आये। अभी तक पीठ में दर्द हो रहा है।

मोटे०—अजी, वह तर माल खिलाऊँगा कि सारा दर्द-वर्द भाग जायगा। तुम्हारे यजमानों को भी ऐसे पदार्थ मयस्सर न हुए होंगे। आज तुम्हें बदकर पछाड़ूँगा।

चिन्ता०—तुम बेचारे मुझे क्या पछाड़ोगे। सारे शहर में तो कोई ऐसा माई का लाल दिखाई नहीं देता। हमें शनीचर का इष्ट है।

मोटे०—अजी, यहाँ बरसों तपस्या की है। भंडारे का भंडारा साफ़ कर दें और इच्छा ज्यों-की-त्यों बनी रहे। बस यही समझ

लो कि भोजन करके हम खड़े नहीं हो सकते। चलना तो दूसरी बात है। गाड़ी पर लदकर आते हैं।

चिन्ता०—तो यह कौन बड़ी बात है। यहाँ तो टिकठी पर उठाकर लाये जाते हैं। ऐसी-ऐसी डकारें लेते हैं कि जान पड़ता है, बम-गोला छूट रहा है। एक बार खोफिया पुलिस ने बम-गोले के सन्देह में घर की तलाशी तक ली थी।

मोटे०—झूठ बोलते हो। कोई इस तरह नहीं डकार सकता।

चिंता०—अच्छा तो आकर सुन लेना। डरकर भाग न जाओ, तो सही।

एक क्षण में दोनों मित्र मोटर पर बैठे और मोटर चली।

(८)

रास्ते में पण्डित चिंतामणि को शंका हुई कि कहीं ऐसा न हो कि मैं पण्डित मोटेराम का पिछलग्गू समझा जाऊँ और मेरा यथेष्ट सम्मान न हो। उधर पण्डित मोटेराम को भी भय हुआ कि कहीं ये महाशय मेरे प्रतिद्वन्द्वी न बन जायँ और रानी साहब पर अपना रङ्ग जमा लें।

दोनों अपने-अपने मंसूबे बाँधने लगे। ज्यों ही मोटर रानी के भवन में पहुँची, दोनों महाशय उतरे। अब मोटेराम चाहते थे कि पहले मैं रानी के पास पहुँच जाऊँ और कह दूँ कि पण्डित को ले आया, और चिन्तामणि चाहते थे कि पहले मैं रानी के सम्मुख जा पहुँचूँ और अपना रङ्ग जमा दूँ। दोनों कदम बढ़ाने लगे। चिन्तामणि हल्के होने के कारण ज़रा आगे बढ़ गये, तो पण्डित मोटेराम दौड़ने लगे। चिन्तामणि भी दौड़ पड़े। घुड़दौड़-सी होने लगी। मालूम होता था कि दो गैंड़े भागे जा रहे हैं। अन्त को मोटेराम ने हाँफते हुए कहा—राजसभा में दौड़ते हुए जाना उचित नहीं।

चिन्ता०—तो तुम धीरे-धीरे आओ न, दौड़ने को कौन कहता है।

खवाय देत कोऊ।

चिन्ता०—मोटेराम महादुष्ट है। इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।

सोना--ऐसे तो बड़े विद्वान् बनत रहैं। अब काहे नाहीं बोलत बनत। मुँह में दही जम गया, जीभै नहीं खुलत है।

चिन्ता०--सत्य कहता हूँ, रानी को चकमा देता। इस दुष्ट के मारे सब खेल बिगड़ गया। सारी अभिलाषा मन में रह गई। ऐसे पदार्थ अब कहाँ मिल सकते हैं?

सोना—सारी मनुसई निकस गई। घर ही में गरजै के सेर हैं!

रानी ने भंडारी को बुलाकर कहा—इन छोटे-छोटे तीनों बच्चों को खिला दो। ये बेचारे क्यों भूखों मरें। क्यों फेकूराम, मिठाई खाओगे?

फेकू—इसीलिए तो आये हैं।

रानी—कितनी मिठाई खाओगे?

फेकू--बहुत-सी, (हाथों से बताकर) इतनी!

रानी—अच्छी बात है। जितनी खाओगे उतनी मिलेगी; पर जो बात मैं पूछूँ, वह बतानी पड़ेगी। बताओगे न?

फेकू—हाँ बताऊँगा, पूछिये!

रानी-झूठ बोले, तो एक मिठाई भी न मिलेगी, समझ गये।

फेकू--मत दीजियेगा। मैं झूठ बोलूँगा ही नहीं।

रानी—अपने पिता का नाम बताओ।

मोटे०—बालकों को हरदम सब बातें स्मरण नहीं रहतीं। इसने तो आते ही आते बता दिया था।

रानी—मैं फिर पूछती हूँ, इसमें आपकी क्या हानि है?

चिन्ता०—नाम पूछने में कोई हर्ज नहीं।

मोटे०—तुम चुप रहो चिन्तामणि, नहीं तो ठीक न होगा।

मेरे क्रोध को अभी तुम नहीं जानते । दबा बैठूँगा, तो रोते भागोगे ।

रानी—आप तो व्यर्थ इतना क्रोध कर रहे हैं। बोलो फेकूराम, चुप क्यों हो ? फिर मिठाई न पाओगे ।

चिन्ता०—महारानी की इतनी दया-दृष्टि तुम्हारे ऊपर है, बता दो बेटा !

मोटे०—चिन्तामणिजी, मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे अदिन आये हैं। वह नहीं बताता, तुम्हारा साझा—आये वहाँ से बड़े खैरख्वाह बन के ।

सोना—अरे हाँ, लरकन से ई सब पँवार-से का मतलब । तुमका धरम परे मिठाई देव, न धरम परे न देव । ई का कि बाप का नाम, बताओ तब मिठाई देब ।

फेकूराम ने धीरे से कोई नाम लिया । इस पर पण्डितजी ने उसे इतने जोर से डाटा कि उसकी आधी बात मुँह में ही रह गई ।

रानी—क्यों डाटते हो, उसे बोलने क्यों नहीं देते । बोलो बेटा !

मोटे०—आप हमें अपने द्वार पर बुलाकर हमारा अपमान कर रही हैं ।

चिन्ता०—इसमें अपमान की तो कोई बात नहीं है भाई ।

मोटे०—अब हम इस द्वार पर कभी न आवेंगे । यहाँ सत्पुरुषों का अपमान किया जाता है !

अलगू—कहिये तो मैं चिन्तामणि को एक पटकन दूँ ।

मोटे०—नहीं बेटा, दुष्टों को परमात्मा स्वयं दण्ड देता है । चलो यहाँ से चलें । अब भूलकर भी यहाँ न आयेंगे । खिलाना न पिलाना, द्वार पर बुलाकर ब्राह्मणों का अपमान करना । तभी तो देश में आग लगी हुई है ।

पिताजी मूछों में हँस रहे हैं। ऐसी मृदु-हँसी उनके चेहरे पर मैंने कभी नहीं देखी थी। उनकी आँखों से अनुराग टपका पड़ता था। उनका एक-एक रोम पुलकित हो रहा था; मगर ईश्वर ने मेरी लाज रख ली। वह देखो, उन्होंने धीरे से आबादी के कोमल हाथों से अपनी कलाई छुड़ा ली। अरे! यह फिर क्या हुआ। आबादी तो उनके गले में बाँहें डाले देती है। अब की पिताजी जरूर उसे पीटेंगे। चुड़ैल को जरा भी शर्म नहीं।

एक महाशय ने मुसकिराकर कहा—यहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी आबादीजान! और दरवाजा देखो।

बात तो इन महाशय ने मेरे मन की कही, और बहुत ही उचित कही; लेकिन न जाने क्यों पिताजी ने उनकी ओर कुपित नेत्रों से देखा, और मूँछों पर ताव दिया। मुँह से तो वह कुछ न बोले; पर उनके मुख की आकृति चिल्लाकर सरोष शब्दों में कह रही थी—तू बनिया मुझे समझता क्या है? यहाँ ऐसे अवसर पर जान तक निसार करने को तैयार हैं। रुपये की हक़ीकत ही क्या! तेरा जी चाहे आजमा ले। तुझ से दूनी रक़म न दे डालूँ, तो मुँह न दिखाऊँ! महान् आश्चर्य! घोर अनर्थ! अरे जमीन, तू फट क्यों नहीं जाती? आकाश, तू फट क्यों नहीं पड़ता? अरे मुझे मौत क्यों नहीं आ जाती! पिताजी जेब में हाथ डाल रहे हैं। वह कोई चीज निकाली, और सेठजी को दिखाकर आबादीजान को दे डाली। आह! यह तो अशर्फ़ी है। चारों ओर तालियाँ बजने लगीं। सेठजी उल्लू बन गये। पिताजी ने मुँह की खाई, इसका निश्चय मैं नहीं कर सकता। मैंने केवल इतना देखा कि पिताजी ने एक अशर्फ़ी निकालकर आबादीजान को दी। उनकी आँखों में इस समय इतना गर्व-युक्त उल्लास था, मानो उन्होंने हातिम की क़ब्र पर लात मारी

हो। यही पिताजी हैं, जिन्होंने मुझे आरती में एक रुपया डालते देखकर मेरी ओर इस तरह से देखा था, मानो मुझे फाड़ ही खायँगे। मेरे उस परमोचित व्यवहार से उनके रोब में फर्क आता था, और इस समय इस घृणित, कुत्सित निन्दित व्यापार पर गर्व और आनंद से फूले न समाते थे।

आबादीजान ने एक मनोहर मुसकान के साथ पिताजी को सलाम किया, और आगे बढ़ी; मगर मुझसे वहाँ न बैठा गया। मारे शर्म के मेरा मस्त झुका जाता था; अगर मेरी आँखों-देखी बात न होती, तो मुझे इस पर कभी एतबार न होता। मैं बाहर जो कुछ देखता-सुनता था, उसकी रिपोर्ट अम्माँ से जरूर करता था। पर इस मामले को मैंने उनसे छिपा रखा। मैं जानता था, उन्हें यह बात सुनकर बड़ा दुःख होगा।

रात भर गाना होता रहा। तबले की धमक मेरे कानों में आ रही थी। जी चाहता था, चलकर देखूँ; पर साहस न होता था। मैं किसी को मुँह कैसे दिखाऊँगा? कहीं किसी ने पिताजी का ज़िक्र छेड़ दिया, तो मैं क्या करूँगा?

प्रातःकाल रामचन्द्र की बिदाई होनेवाली थी। मैं चारपाई से उठते ही आँखें मलता हुआ चौपाल की ओर भागा। डर रहा था कि कहीं रामचंद्र चले न गये हों। पहुँचा, तो देखा—तायफ़ों की सवारियाँ जाने को तैयार हैं। बीसों आदमी हसरतनाक मुँह बनाये उन्हें घेरे खड़े हैं। मैंने उनकी ओर आँख तक न उठाई। सीधा रामचन्द्र के पास पहुँचा। लक्ष्मण और सीता बैठे रो रहे थे, और रामचन्द्र खड़े काँधे पर लुटिया डोर डाले उन्हें समझा रहे थे। मेरे सिवा वहाँ और कोई न था। मैंने कुंठित स्वर से रामचंद्र से पूछा—क्या तुम्हारी बिदाई हो गई?

रामचंद्र—हाँ, हो तो गई। हमारी बिदाई ही क्या? चौधरी

मोटे०—ज़रा रुक जाओ, मेरे पैर में काँटा गड़ गया है।

चिन्ता०—तो निकाल लो, तब तक मैं चलता हूँ।

मोटे०—मैं न कहता, तो रानी तुम्हें पूछती भी न!

मोटेराम ने बहुत बहाने किये; पर चिन्तामणि ने एक न सुना। भवन में पहुँचे। रानी साहब बैठी कुछ लिख रही थीं और रह-रहकर द्वार की ओर ताक लेती थीं कि सहसा पण्डित चिन्तामणि उनके सामने आ खड़े हुए और यों स्तुति करने लगे—

'हे हे यशोदे तू बालकेशव, मुरार नामा......'

रानी—क्या मतलब है! अपना मतलब कहो?

चिन्ता०—सरकार को आशीर्वाद देता हूँ। सरकार ने इस दास चिन्तामणि को निमन्त्रित करके जितना अनुग्रसित (अनुगृहीत) किया है, उसका बखान शेषनाग अपनी सहस्र जिभ्या-द्वारा भी नहीं कर सकते।

रानी—तुम्हारा ही नाम चिन्तामणि है! वे कहाँ रह गये पण्डित मोटेराम शास्त्री?

चिन्ता०—पीछे आ रहा है सरकार, मेरे बराबर आ सकता है भला! मेरा तो शिष्य है।

रानी—अच्छा तो वे आपके शिष्य हैं!

चिन्ता०—मैं अपने मुँह से अपनी बड़ाई नहीं करना चाहता। सरकार! विद्वानों को नम्र होना चाहिये; पर जो यथार्थ है, वह तो संसार जानता है। सरकार मैं किसी से वाद-विवाद नहीं करता; यह मेरा अनुशीलन (अभीष्ट) नहीं। मेरे शिष्य भी बहुधा मेरे गुरु बन जाते हैं; पर मैं किसी से कुछ नहीं कहता। जो सत्य है, वह सभी जानते हैं।

इतने में पण्डित मोटेराम भी गिरते-पड़ते हाँफते हुए आ पहुँचे और यह देखकर कि चिन्तामणि भद्रता और सभ्यता की मूर्ति बने खड़े हैं, वे देवोपम शान्ति के साथ खड़े हो गये।

रानी--पण्डित चिन्तामणि बड़े साधु-प्रकृति विद्वान् हैं। आप उनके शिष्य हैं, फिर भी वे आपको अपना शिष्य नहीं कहते।

मोटे०—सरकार, मैं इनका दासानुदास हूँ।

चिन्ता०—जगतारिणी, मैं इनका चरण-रज हूँ।

मोटे०—रिपुदलसंहारिणीजी, मैं इनके द्वार का कूकर हूँ।

रानी—आप दोनों सज्जन पूज्य हैं। एक-से-एक बढ़े हुए। चलिये, भोजन कीजिये।

(६)

सोनारानी बैठी पण्डित मोटेराम की राह देख रही थीं। पति की इस मित्र-भक्ति पर उन्हें बड़ा क्रोध आ रहा था। बड़े लड़कों के विषय में तो कोई चिन्ता न थी; लेकिन छोटे बच्चों के सो जाने का भय था उन्हें किस्से-कहानियाँ सुना-सुनाकर बहला रही थीं कि भंडारी ने आकर कहा--महाराज चलो, दोनों पण्डितजी आसन पर बैठ गये। फिर क्या था, बच्चे कूद-कूदकर भोजनशाला में जा पहुँचे। देखा, तो दोनों पण्डित दो वीरों की भाँति आमने-सामने डटे बैठे हैं। दोनों अपना-अपना पुरुषार्थ दिखाने के लिए अधीर हो रहे थे।

चिन्ता०—भंडारीजी तुम परोसने में बड़ा विलम्ब करते हो। क्या भीतर जाकर सोने लगते हो?

भंडारी—चुपाई मारे बैठे रहो, जौन कुछ होई सब आय जाई। घबड़ाए का नहीं होत। तुम्हारे सिवाय और कोई जिवैया नहीं बैठा है।

मोटे—भैया, भोजन करने के पहले कुछ देर सुगन्ध का स्वाद तो लो।

चिन्ता०—अजी सुगन्ध गया चूल्हे में, सुगन्ध देवता लोग लेते हैं। अपने लोग तो भोजन करते हैं।

मोटे०—अच्छा बताओ, पहले किस चीज़ पर हाथ फेरोगे?

चिन्ता०—मैं जाता हूँ, भीतर से सब चीजें एक साथ लिये आता हूँ।

मोटे०—धीरज धरो भैया, सब पदार्थों को आ जाने दो। ठाकुरजी का भोग तो लग जाय।

चिन्ता०—तो बैठे क्यों हो, तब तक भोग ही लगाओ। एक बाधा तो मिटे। नहीं, लाओ मैं चटपट भोग लगा दूँ। व्यर्थ देर करोगे।

इतने में रानी आ गईं। चिन्तामणि सावधान हो गये। रामायण की चौपाइयों का पाठ करने लगे—

'रहा एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कौशलेश दशरथ के जाये। हम पितु बचन मानि बन आये॥
उलटि पलटि लङ्का कपि जारी। कूद परा तब सिन्धु मझारी॥
जेहि पर जाकर सत्य सनेहू। ता तेंहिं मिले न कछु संदेहू॥
जामवन्त के बचन सुहाए। सुनि हनुमान हृदय अति भाए॥'

पण्डित मोटेराम ने देखा कि चिन्तामणि का रंग जमता जाता है, तो वे भी अपनी विद्वत्ता प्रकट करने को व्याकुल हो गये। बहुत दिमाग़ लड़ाया; पर कोई श्लोक, कोई मन्त्र कोई कवित्त याद न आया। तब उन्होंने सीधे-सीधे राम-नाम का पाठ आरम्भ कर दिया—

'राम भज, राम भज, राम भज रे मन'—इन्होंने इतने ऊँचे स्वर से जाप करना शुरू किया कि चिन्तामणि को भी अपना स्वर ऊँचा करना पड़ा। मोटेराम और जोर से गरजने लगे। इतने में भंडारीजी ने कहा—महाराज, अब भोग लगाइए। यह सुनकर उस प्रतिस्पर्द्धा का अन्त हुआ। भोग की तैयारी हुई। बालवृन्द सजग हो गये। किसी ने घंटा लिया, किसी ने घड़ियाल, किसी ने शंख, किसी ने करताल, चिन्तामणि ने आरती

उठा ली। मोटेराम मन में ऐंठकर रह गये। रानी के समीप जाने का यह अवसर उनके हाथ से निकल गया।

पर यह किसे मालूम था कि विधि-वाम इधर कुछ और ही कुटिल क्रीड़ा कर रहा है? आरती समाप्त हो गई थी, भोजन शुरू होने को ही था कि एक कुत्ता न जाने किधर से आ निकला। पण्डित चिन्तामणि के हाथ से लड्डू थाल में गिर पड़ा। पण्डित मोटेराम अकचकाकर रह गये। सर्वनाश!

चिन्तामणि ने मोटेराम से इशारे में कहा—अब क्या करते हो मित्र, कोई उपाय निकालो, यहाँ तो कमर टूट गई।

मोटेराम ने लम्बी साँस खींचकर कहा—अब क्या हो सकता है? यह ससुर आया किधर से?

रानी पास ही खड़ी थीं, उन्होंने कहा—अरे कुत्ता किधर से आ गया? यह तो रोज बँधा रहता था, आज कैसे छूट गया! अब तो रसोई भ्रष्ट हो गई।

चिन्ता०—सरकार, आचार्यों ने इस विषय में......

मोटे०—कोई हर्ज नहीं है सरकार, कोई हर्ज नहीं है!

सोना—भाग्य फूट गया। जोहत-जोहत आधी रात बीत गई, तब ई बिपत फाट परी।

चिन्ता०—सरकार, स्वान के मुख में अमृत......

मोटे०—तो अब आज्ञा हो, तो चलें।

रानी—हाँ और क्या। मुझे बड़ा दुःख है कि इस कुत्ते ने आज इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। तुम बड़े गुस्ताख़ हो गये टामी। भंडारी ये पत्तल उठाकर मेहतर को दे दो।

चिन्ता०—(सोना से) छाती फटी जाती है।

सोना को बालकों पर दया आई। बेचारे इतनी देर देवोपम धैर्य के साथ बैठे थे। बस चलता, तो कुत्ते का गला घोंट देती। बोली—लरकन का तो दोष नाहीं परत है। इन्हें काहे नाहीं

चिन्ता०—मोटेराम, महारानी के सामने तुम्हें इतनी कटु बातें न करनी चाहिये।

मोटे०—बस, चुप ही रहना, नहीं तो सारा क्रोध तुम्हारे ही सिर जायगा। माता-पिता का पता नहीं, ब्राह्मण बनने चले हैं। तुम्हें कौन कहता है ब्राह्मण ?

चिन्ता०—जो कुछ मन चाहे कह लो। चन्द्रमा पर थूकने से थूक अपने ही मुँह पर पड़ता है। जब तुम धर्म का एक लक्षण भी नहीं जानते, तब तुम से क्या बातें करूँ। ब्राह्मण को धैर्य रखना चाहिये।

मोटे०—पेट के गुलाम हो। ठकुरसोहाती कर रहे हो, कि एकाध पत्तल मिल जाय। यहाँ मर्यादा का पालन करते हैं !

चिन्ता०—कह तो दिया भाई कि तुम बड़े, मैं छोटा, अब और क्या कहूँ। तुम सत्य कहते होगे, मैं ब्राह्मण नहीं, शूद्र हूँ।

रानी—ऐसा न कहिये चिन्तामणिजी, आप यदि जन्म से शूद्र भी हों, तो इतने गुण रखते हुए आप ब्राह्मण ही हैं।

मोटे०—अच्छा चिन्तामणिजी, इसका बदला न लिया तो कहना !

यह कहते हुए पण्डित मोटेराम बाल-वृन्द के साथ बाहर चले आये और भाग्य को कोसते हुए घर को चले। बार-बार पछता रहे थे कि इस दुष्ट चिन्तामणि को क्यों बुला लाया।

सोना ने कहा—भण्डा फूटत-फूटत बच गया। फेकुआ नाँव बताय देत। काहे रे, अपने बाप केर नाँव बताय देते !

फेकू—और क्या। वे तो सच-सच पूछती थीं !

मोटे०—चिन्तामणि ने रङ्ग जमा लिया, अब आनन्द से भोजन करेगा।

सोना—तुम्हार एको विद्या काम न आई। ऊ तौन बाजी मार लेगा।

मोटे०—मैं तो जानता हूँ, रानी ने जान-बूझकर कुत्ते को बुला लिया।

सोना—मैं तो ओका मुँहे देखत ताड़ गई कि हमका पहचान गई।

इधर तो ये लोग पछताते चले जाते थे। उधर चिन्तामणि की पाँचों घी में थीं। आसन मारे भोजन कर रहे थे। रानी अपने हाथों से मिठाइयाँ परोस रही थीं; वार्त्तालाप भी होता जाता था।

रानी—बड़ा धूर्त है। मैं तो बालकों को देखते ही समझ गई। अपनी स्त्री को भेष बदलकर लाते उसे लज्जा भी न आई।

चिन्ता०—मुझे कोस रहे होंगे।

रानी—मुझसे उड़ने चला था। मैंने भी कहा था—बचा, तुमको ऐसी शिक्षा दूँगी कि उम्र भर याद करोगे। टामी को बुला लिया।

चिन्ता०—सरकार की बुद्धि को धन्य है।

रामलीला

इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बन्दरों के भद्दे चेहरे लगाये, आधी टाँगों का पाजामा और काला रंग का ऊँचा कुरता पहने आदमियों को दौड़ते, हू-हू करते देखकर अब हँसी आती है; मजा नहीं आता। काशी की लीला जगद्विख्यात् है। सुना है, लोग दूर-दूर से देखने आते हैं। मैं भी बड़े शौक़ से गया; पर मुझे तो वहाँ की लीला और किसी वज्र देहात की लीला में कोई अन्तर न दिखाई दिया। हाँ, रामनगर की लीला में कुछ साज-सामान अच्छे हैं। राक्षसों और बन्दरों के चेहरे पीतल के हैं, गदाएँ भी पीतल की; कदाचित् बनवासी भ्राताओं के मुकुट सच्चे काम के हों; लेकिन साज-सामान के सिवा वहाँ भी वही हू-हू के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी लाखों आदमियों की भीड़ लगी रहती है।

लेकिन एक जमाना वह था, जब मुझे भी रामलीला में आनन्द आता था। आनन्द तो बहुत हलका-सा शब्द है। वह आनन्द उन्माद से कम न था। संयोग-वश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोड़ी दूर पर रामलीला का मैदान था; और जिस घर में लीला-पात्रों का रूप-रंग भरा जाता था, वह तो मेरे घर से बिलकुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की

सजावट होने लगती थी। मैं दोपहर ही से वहाँ जा बैठता, और जिस उत्साह से दौड़-दौड़कर छोटे-मोटे काम करता, उस उत्साह से तो आज अपनी पेंशन लेने भी नहीं जाता। एक कोठरी में राजकुमारों का शृङ्गार होता था। उनकी देह में रामरज पीसकर पोती जाती ; मुँह पर पाउडर लगाया जाता और पाउडर के ऊपर लाल, हरे, नीले रंग की बुँदकियाँ लगाई जाती थीं। सारा माथा, भौंहें, गाल, ठोड़ी बुँदकियों से रच उठती थीं। एक ही आदमी इस काम में कुशल था। वही बारी-बारी से तीनों पात्रों का शृङ्गार करता था। रंग की प्यालियों में पानी लाना, रामरज पीसना, पंखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता, तो उस पर रामचन्द्रजी के पीछे बैठकर मुझे जो उल्लास, जो गर्व, जो रोमांच होता था, वह अब लाट साहब के दरबार में कुरसी पर बैठकर भी नहीं होता। एक बार जब होम-मेम्बर साहब ने व्यवस्थापक-सभा में मेरे एक प्रस्ताव का अनुमोदन किया था, उस वक्त मुझे कुछ उसी तरह का उल्लास, गर्व और रोमांच हुआ था। हाँ, एक बार जब मेरा ज्येष्ठ पुत्र नायब-तहसीलदारी में नामजद हुआ, तब भी ऐसी ही तरंगें मन में उठी थीं ; पर इनमें और उस बाल-विह्वलता में बड़ा अन्तर है। तब तो ऐसा मालूम होता था कि मैं स्वर्ग में बैठा हूँ।

निषाद-नौका-लीला का दिन था। मैं दो-चार लड़कों के बहकाने में आकर गुल्ली-डंडा खेलने लगा था। आज शृङ्गार देखने न गया। विमान भी निकला ; पर मैंने खेलना न छोड़ा। मुझे अपना दाँव लेना था। अपना दाँव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर आत्मत्याग की ज़रूरत थी, जितनी मैं कर सकता था। अगर दाँव देना होता, तो मैं कब का भाग खड़ा होता ; लेकिन पदाने में कुछ और ही बात होती है। ख़ैर, दाँव पूरा

हुआ। अगर मैं चाहता, तो धाँधली करके दस-पाँच मिनट और पढ़ा सकता था, इसकी काफ़ी गुञ्जाइश थी ; लेकिन अब इसका मौक़ा न था। मैं सीधे नाले की तरफ़ दौड़ा। बिमान जल-तट पर पहुँच चुका था। मैंने दूर से देखा—मल्लाह किश्ती लिये आ रहा है। दौड़ा, लेकिन आदमियों की भीड़ में दौड़ना कठिन था। आख़िर जब मैं भीड़ हटाता, प्राण-पण से आगे बढ़ता घाट पर पहुँचा, तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था। रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी। मैं अपने पाठ की चिन्ता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था, जिसमें वह फेल न हो जायँ। मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा में पढ़ते थे। लेकिन, वही रामचन्द्र नौका पर बैठे इस तरह मुँह फेरे चले जाते थे, मानो मुझसे जान-पहचान ही नहीं। नक़ल में भी असल की कुछ-न-कुछ बू आ ही जाती है। भक्तों पर जिनकी निगाह सदा ही तीखी रही है, वह मुझे क्यों उबारते ? मैं विकल होकर उस बछड़े की भाँति कूदने लगा, जिसकी गरदन पर पहली बार जुआ रखा गया हो। कभी लपककर नाले की ओर जाता, कभी किसी सहायक की खोज में पीछे की तरफ़ दौड़ता। पर सब के सब अपनी धुन में मस्त थे ; मेरी चीख-पुकार किसी के कानों तक न पहुँची। तब से बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ झेलीं ; पर उस समय जितना दुःख हुआ, उतना फिर कभी न हुआ।

मैंने निश्चय किया था कि अब रामचन्द्र से कभी न बोलूँगा, न कभी खाने की कोई चीज़ ही दूँगा ; लेकिन ज्यों ही नाले को पार करके वह पुल की ओर लौटे, मैं दौड़कर विमान पर चढ़ गया, और ऐसा खुश हुआ, मानो कोई बात ही न हुई थी।

(२)

रामलीला समाप्त हो गई थी। राजगद्दी होनेवाली थी ; पर न जाने क्यों देर हो रही थी। शायद चन्दा कम वसूल हुआ

था। रामचन्द्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था। न तो घर जाने की छुट्टी ही मिलती थी, न भोजन का प्रबंध ही होता था। चौधरी साहब के यहाँ से एक सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था। बाकी सारे दिन कोई पानी को भी नहीं पूछता। लेकिन, मेरी श्रद्धा अभी तक ज्यों की त्यों थी। मेरी दृष्टि में वह अब भी रामचन्द्र ही थे। घर पर मुझे खाने की कोई चीज़ मिलती, वह लेकर रामचन्द्र को दे आता। उन्हें खिलाने में मुझे जितना आनन्द मिलता था, उतना आप खा जाने में कभी न मिलता। कोई मिठाई या फल पाते ही मैं बेतहाशा चौपाल की ओर दौड़ता। अगर रामचन्द्र वहाँ न मिलते, तो उन्हें चारों ओर तलाश करता, और जब तक वह चीज़ उन्हें न खिला लेता, मुझे चैन न आता था।

ख़ैर राजगद्दी का दिन आया। रामलीला के मैदान में एक बड़ा-सा शामियाना ताना गया। उसकी खूब सजावट की गई। वेश्याओं के दल भी आ पहुँचे। शाम को रामचन्द्र की सवारी निकली, और प्रत्येक द्वार पर उनकी आरती उतारी गई। श्रद्धानुसार किसी ने रुपए दिये, किसी ने पैसे। मेरे पिता पुलिस के आदमी थे; इसलिए उन्होंने बिना कुछ दिये ही आरती उतारी उस वक्त मुझे जितनी लज्जा आई, उसे बयान नहीं कर सकता। मेरे पास उस वक्त संयोग से एक रुपया था मेरे मामाजी दशहरे के पहले आये थे, और मुझे एक रुपया दे गये थे। उस रुपए को मैंने रख छोड़ा था। दशहरे के दिन भी उसे ख़र्च न कर सका। मैंने तुरन्त वह रुपया लाकर आरती की थाली में डाल दिया। पिताजी मेरी ओर कुपित नेत्रों से देखकर रह गये। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं; लेकिन मुँह ऐसा बना लिया, जिससे प्रकट होता था कि मेरी इस धृष्टता से उनके रोब में बट्टा लग गया। रात के दस बजते-बजते यह परिक्रमा पूरी हुई। आरती

की थाली रुपयों और पैसों से भरी हुई थी। ठीक तो नहीं कह सकता; मगर अब ऐसा अनुमान होता है कि चार-पाँच सौ रुपयों से कम न थे। चौधरी साहब इनसे कुछ ज्यादा ही खर्च कर चुके थे। उन्हें इसकी बड़ी फिक्र हुई कि किसी तरह कम से दो सौ रुपए और वसूल हो जाँय। और इसकी सबसे अच्छी तरकीब उन्हें यही मालूम हुई कि वेश्याओं-द्वारा महफ़िल में वसूली हो। जब लोग आकर बैठ जायँ, और महफ़िल का रङ्ग जम जाय, तो आबादीजान रसिकजनों की कलाइयाँ पकड़-पकड़कर ऐसे हाव-भाव दिखावे कि लोग शरमाते-शरमाते भी कुछ न कुछ दे ही मरें। आबादीजान और चौधरी साहब में सलाह होने लगी। मैं संयोग से उन दोनो प्राणियों की बातें सुन रहा था। चौधरी साहब ने समझा होगा यह लौंडा क्या मतलब समझेगा। पर यहाँ ईश्वर की दया से अक्ल के पुतले थे। सारी दास्तान समझ में आती जाती थी।

चौधरी—सुनो आबादीजान, यह तुम्हारी ज्यादती है। हमारा और तुम्हारा कोई पहला साबका तो है नहीं। ईश्वर ने चाहा, तो यहाँ हमेशा तुम्हारा आना-जाना लगा रहेगा। अबकी चन्दा बहुत कम आया, नहीं तो मैं तुमसे इतना इसरार न करता।

आबादी०—आप मुझसे भी जमींदारी चालें चलते हैं, क्यों? मगर यहाँ हुजूर की दाल न गलेगी। वाह! रुपए तो मैं वसूल करूँ, और मूछों पर ताव आप दें। कमाई का यह अच्छा ढंग निकाला है। इस कमाई से तो वाक़ई आप थोड़े दिनों में राजा हो जायँगे। उसके सामने जमींदारी झक मारेगी! बस, कल ही से एक चकला खोल दीजिये! खुदा की क़सम मालामाल हो जाइयेगा।

चौधरी—तुम तो दिल्लगी करती हो, और यहाँ काफ़िया तंग हो रहा है।

आबादी०—तो आप भी तो मुझी से उस्तादी करते हैं। यहाँ आप जैसे काइयों को रोज़ उँगलियों पर नचाती हूँ।

चौधरी—आख़िर तुम्हारी मंशा क्या है?

आबादी०—जो कुछ वसूल करूँ उसमें आधा मेरा और आधा आपका। लाइये, हाथ मारिये।

चौधरी—यही सही।

आबादी०—अच्छा, तो पहले मेरे सौ रुपए गिन दीजिये। पीछे से आप अलसेठ करने लगेंगे।

चौधरी—वाह! वह भी लोगी और यह भी।

आबादी०—अच्छा! तो क्या आप समझते थे कि अपनी उजरत छोड़ दूँगी? वाह री आपकी समझ! खूब, क्यों न हो। दीवाना बकारे खवेश हुशियार।

चौधरी—तो क्या तुमने दोहरी फ़ीस लेने की ठानी है?

आबादी०—अगर आपको सौ दफ़े गरज हो, तो! वरना मेरे सौ रुपये तो कहीं गये ही नहीं। मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो लोगों की जेब में हाथ डालती फिरूँ।

चौधरी की एक न चली। आबादी के सामने दबना पड़ा। नाच शुरू हुआ। आबादीजान बला की शोख़ औरत थी। एक तो कमसिन, उस पर हसीन। और, उसकी अदाएँ तो इस गज़ब की थीं कि मेरी तबीयत भी मस्त हुई जाती थी। आदमियों को पहचानने का गुण भी उसमें कुछ कम न था। जिसके सामने बैठ गई, उससे कुछ-न-कुछ ले ही लिया। पाँच रुपए से कम तो शायद ही किसी ने दिये हों। पिताजी के सामने भी वह जा बैठी। मैं मारे शर्म के गड़ गया। जब उसने उनकी कलाई पकड़ी, तब तो मैं सहम उठा। मुझे यक़ीन था कि पिता उसका हाथ झटक देंगे। और शायद दुत्कार भी दें, किन्तु यह क्या हो रहा है! ईश्वर! मेरी आँखें धोका तो नहीं खा रही हैं!

साहब ने कह दिया—जाओ, चले जाते हैं।

'क्या रुपए और कपड़े नहीं मिले ?'

'अभी नहीं मिले। चौधरी साहब कहते हैं—इस वक्त बचत में रुपए नहीं हैं। फिर आकर ले जाना।'

'कुछ नहीं मिला ?'

'एक पैसा भी नहीं। कहते हैं, कुछ बचत नहीं हुई। मैंने सोचा था कुछ रुपए मिल जायँगे, तो पढ़ने की किताबें ले लूँगा। सो कुछ न मिला। राह-ख़र्च भी नहीं दिया। कहते हैं—कौन दूर है, पैदल चले जाओ !

मुझे ऐसा क्रोध आया कि चलकर चौधरी को खूब आड़े हाथों लूँ। वेश्याओं के लिए रुपए, सवारियाँ सब कुछ; पर बेचारे रामचन्द्र और उनके साथियों के लिए कुछ भी नहीं ! जिन लोगों ने रात को आबादीजान पर दस-दस, बीस-बीस रुपए न्योछावर किये थे, उनके पास क्या इनके लिए दो-दो, चार-चार आने पैसे भी नहीं ? पिताजी ने भी तो आबादीजान को एक अशर्फ़ी दी थी। देखूँ, इनके नाम पर क्या देते हैं ! मैं दौड़ा हुआ पिताजी के पास गया। वह कहीं तफ़तीश पर जाने को तैयार खड़े थे। मुझे देखकर बोले—कहाँ घूम रहे हो ? पढ़ने के वक्त तुम्हें घूमने की सूझती है ?

मैंने कहा—गया था चौपाल। रामचन्द्र बिदा हो रहे थे। उन्हें चौधरी साहब ने कुछ नहीं दिया।

'तो तुम्हें इसकी क्या फ़िक्र पड़ी है ?'

'वह जायँगे कैसे ? पास राह-ख़र्च भी तो नहीं है ?'

'क्या कुछ ख़र्च भी नहीं दिया ? यह चौधरी साहब की बेइंसाफ़ी है।'

'आप अगर दो रुपया दे दें, तो मैं उन्हें दे आऊँ। इतने में शायद वह घर पहुँच जाँय।'

पिताजी ने तीव्र दृष्टि से देखकर कहा—जाओ, अपनी किताब देखो। मेरे पास रुपए नहीं हैं।

यह कहकर वह घोड़े पर सवार हो गये। उसी दिन से पिताजी पर से मेरी श्रद्धा उठ गई। मैंने फिर कभी उनकी डाँट-डपट की परवा नहीं की। मेरा दिल कहता—आपको मुझे उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। मुझे उनकी सूरत से चिढ़ हो गई। वह जो कहते, मैं ठीक उसका उलटा करता। यद्यपि इससे मेरी ही हानि हुई; लेकिन मेरा अंतःकरण उस समय विप्लवकारी विचारों से भरा हुआ था।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे। मैंने पैसे उठा लिये, और जाकर शरमाते-शरमाते रामचंद्र को दे दिये। उन पैसों को देखकर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ, वह मेरे लिए आशातीत था। टूट पड़े, मानो प्यासे को पानी मिल गया।

वही दो-आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियाँ बिदा हुईं। केवल मैं ही उनके साथ क़स्बे के बाहर तक पहुँचाने आया।

उन्हें बिदा करके लौटा, तो मेरी आँखें सजल थीं; पर हृदय आनन्द से उमड़ा हुआ था।

मन्त्र

पंडित लीलाधर चौबे की जबान में जादू था। जिस वक्त वह मञ्च पर खड़े होकर अपनी वाणी की सुधा-वृष्टि करने लगते थे, श्रोताओं की आत्माएँ तृप्त हो जाती थीं, लोगों पर अनुराग का नशा छा जाता था। चौबेजी के व्याख्यानों में तत्त्व तो बहुत कम होता था, शब्दयोजना भी बहुत सुन्दर न होती थी; लेकिन उनकी शैली इतनी आकर्षक, रञ्जक और मर्मस्पर्शी थी कि एक ही व्याख्यान को बार-बार दुहराने पर भी उसका असर कम न होता; बल्कि घन की चोटों की भाँति और भी प्रभावोत्पादक हो जाता था। हमें तो विश्वास नहीं आता; किन्तु सुननेवाले कहते हैं, उन्होंने केवल एक व्याख्यान रट रखा है। और उसी को वह शब्दशः प्रत्येक सभा में एक नये अन्दाज से दुहराया करते हैं! जातीय गौरव-गान उनके व्याख्यानों का प्रधान गुण था; मञ्च पर आते ही भारत के प्राचीन गौरव और पूर्वजों की अमर-कीर्ति का राग छेड़कर सभा को मुग्ध कर देते थे। यथा—

'सज्जनो! हमारी अधोगति की कथा सुनकर किसकी आँखों से अश्रुधारा न निकल पड़ेगी? हमें अपने प्राचीन गौरव को याद करके सन्देह होने लगता है कि हम वही हैं, या बदल गये। जिसने कल सिंह से पंजा लिया, वह आज चूहे को देखकर बिल

खोज रहा है ! इस पतन की भी कोई सीमा है। दूर क्यों जाइये, महाराज चन्द्रगुप्त के समय को ही ले लीजिये। यूनान का सुविज्ञ इतिहासकार लिखता है कि उस ज़माने में यहाँ द्वार पर ताले न डाले जाते थे, चोरी कहीं सुनने में न आती थी, व्यभिचार का नाम-निशान न था, दस्तावेज़ों का आविष्कार ही न हुआ था, पुर्ज़ों पर लाखों का लेन-देन हो जाता था, न्यायपद पर बैठे हुए कर्मचारी मक्खियाँ मारा करते थे। सज्जनो, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था (तालियाँ)। हाँ, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था। बाप के सामने बेटे का अवसान हो जाना, एक अश्रुत-पूर्व—एक असम्भव—घटना थी। आज ऐसे कितने माता-पिता हैं, जिनके कलेजे पर जवान बेटों का दाग न हो ? वह भारत नहीं रहा, भारत गारत हो गया !'

यही चौबेजी की शैली थी। वह वर्तमान की अधोगति और दुर्दशा तथा भूत की समृद्धि और सुदशा का राग अलापकर लोगों में जातीय स्वाभिमान को जाग्रत कर देते थे। इसी सिद्धि की बदौलत उनकी नेताओं में गणना होती थी। विशेषतः हिन्दू सभा के तो वह कर्णधार ही समझे जाते थे। हिन्दू-सभा के उपासकों में कोई ऐसा उत्साही, ऐसा दक्ष, ऐसा नीति-चतुर दूसरा न था। यों कहिये, कि सभा के लिए उन्होंने अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया था। धन तो उनके पास न था, कम से कम लोगों का विचार यही था; लेकिन साहस, धैर्य और बुद्धि-जैसे अमूल्य रत्न उनके पास अवश्य थे, और ये सभी सभा को अर्पण थे। 'शुद्धि' के तो मानो वह प्राण ही थे। हिन्दू-जाति का उत्थान और पतन, जीवन और मरण उनके विचार में इसी प्रश्न पर अवलम्बित था। शुद्धि के सिवा अब हिन्दू-जाति के पुनर्जीवन का और कोई उपाय न था। जाति

की समस्त नैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक बीमारियों की दवा इसी आन्दोलन की सफलता में मर्यादित थी, और वह तन-मन से इसका उद्योग किया करते थे। चन्दे वसूल करने में चौबेजी सिद्ध-हस्त थे। ईश्वर ने उन्हें वह 'गुर' बता दिया था कि पत्थर से भी तेल निकाल सकते थे। कंजूसों को तो वह ऐसा उलटे छुरे से मूड़ते थे कि उन महाशयों को सदा के लिए शिक्षा मिल जाती थी। इस विषय में पण्डितजी साम, दाम, दण्ड और भेद, चारो नीतियों से काम लेते थे, यहाँ तक कि राष्ट्र-हित के लिए डाका और चोरी को भी क्षम्य समझते थे।

(२)

गरमी के दिन थे। लीलाधरजी किसी शीतल पार्वत्य-प्रदेश को जाने की तैयारियाँ कर रहे थे कि सैर की सैर हो जायगी, और बन पड़ा, तो कुछ चन्दा भी वसूल कर लायेंगे। उनको जब भ्रमण की इच्छा होती, तो मित्रों के साथ एक डेपुटेशन के रूप में निकल खड़े होते; अगर एक हजार रुपए वसूल करके वह इसका आधा सैर-सपाटे में खर्च भी कर दें, तो किसी की क्या हानि? हिन्दू-सभा को तो कुछ-न-कुछ मिल ही जाता था। वह न उद्योग करते, तो इतना भी तो न मिलता! पण्डितजी ने अब की सपरिवार जाने का निश्चय किया था। जब से 'शुद्धि' का आविर्भाव हुआ था, उनकी आर्थिक दशा, जो पहले बहुत शोचनीय रहती थी, बहुत कुछ सम्भल गई थी।

लेकिन जाति के उपासकों का ऐसा सौभाग्य कहाँ कि शान्ति-निवास का आनन्द उठा सकें! उनका तो जन्म ही मारे-मारे फिरने के लिए होता है। ख़बर आई कि मदरास-प्रान्त में तबलीग़वालों ने तूफ़ान मचा रखा है। हिन्दुओं के गाँव-के-गाँव मुसलमान होते जाते हैं। मुल्लाओं ने बड़े जोश से

तबलीग़ का काम शुरू किया है; अगर हिन्दू-सभा ने इस प्रवाह को रोकने की आयोजना न की, तो सारा प्रान्त हिन्दुओं से शून्य हो जायगा—किसी शिखाधारी की सूरत न नज़र आयेगी।

हिन्दू-सभा में खलबली मच गई। तुरन्त एक विशेष अधिवेशन हुआ और नेताओं के सामने यह समस्या उपस्थित की गई। बहुत सोच-विचार के बाद निश्चय हुआ कि चौबेजी पर इस कार्य का भार रखा जाय। उनसे प्रार्थना की जाय कि वह तुरन्त मद्रास चले जायँ, और धर्म-विमुख बन्धुओं का उद्धार करें। कहने ही की देर थी। चौबेजी तो हिन्दू-जाति की सेवा के लिए अपने को अर्पण ही कर चुके थे; पर्वत-यात्रा का विचार रोक दिया, और मद्रास जाने को तैयार हो गये। हिन्दू-सभा के मंत्री ने आँखों में आँसू भरकर उनसे विनय की कि महाराज, यह बीड़ा आपही उठा सकते हैं। आपही को परमात्मा ने इतनी सामर्थ्य दी है। आपके सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य भारतवर्ष में नहीं है, जो इस घोर विपत्ति में काम आये। जाति की दीन-हीन दशा पर दया कीजिये। चौबेजी इस प्रार्थना को अस्वीकार न कर सके। फ़ौरन् सेवकों की एक मण्डली बनी और पण्डितजी के नेतृत्व में रवाना हुई। हिन्दू-सभा ने उसे बड़ी धूम से बिदाई का भोज दिया। एक उदार रईस ने चौबेजी को एक थैली भेंट की, और रेलवे-स्टेशन पर हज़ारों आदमी उन्हें बिदा करने आये।

यात्रा का वृत्तान्त लिखने की ज़रूरत नहीं। हर एक बड़े स्टेशन पर सेवकों का सम्मानपूर्ण स्वागत हुआ। कई जगह थैलियाँ मिलीं! रतलाम की रियासत ने एक शामियाना भेंट किया। बड़ोदा ने एक मोटर दी कि सेवकों को पैदल चलने का कष्ट न उठाना पड़े, यहाँ तक कि मद्रास पहुँचते-पहुँचते सेवा-

दल के पास एक माक़ूल रक़म के अतिरिक्त ज़रूरत की कितनी ही चीज़ें जमा हो गईं। वहाँ आबादी से दूर, एक खुले हुए मैदान में हिन्दू-सभा का पड़ाव पड़ा। शामियाने पर राष्ट्रीय-झण्डा लहराने लगा। सेवकों ने अपनी-अपनी वर्दियाँ निकालीं, स्थानीय धनकुबेरों ने दावत के सामान भेजे, रावटियाँ पड़ गईं। चारों ओर ऐसी चहल-पहल हो गई, मानो किसी राजा का कैंप है।

(३)

रात के आठ बजे थे। अछूतों की एक बस्ती के समीप, सेवक-दल का कैंप, गैस के प्रकाश से जगमगा रहा था। कई हज़ार आदमियों का जमाव था, जिनमें अधिकांश अछूत ही थे। उनके लिए अलग टाट बिछा दिये गये थे। ऊँचे वर्ण के हिन्दू क़ालीनों पर बैठे हुए थे। पंडित लीलाधर का धुआँधार व्याख्यान हो रहा था—'तुम उन्हीं ऋषियों की सन्तान हो, जो आकाश के नीचे, एक नई सृष्टि की रचना कर सकते थे। जिनके न्याय, बुद्धि और विचार-शक्ति के सामने आज सारा-संसार सिर झुका रहा है।'

सहसा एक बूढ़े अछूत ने उठकर पूछा—हम लोग भी उन्हीं ऋषियों की संतान हैं?

लीलाधर—निस्संदेह! तुम्हारी धमनियों में भी उन्हीं ऋषियों का रक्त दौड़ रहा है और, यद्यपि आज का निर्दयी, कठोर, विचार-हीन, संकुचित हिन्दू-समाज तुम्हें अवहेला की दृष्टि से देख रहा है; तथापि तुम किसी हिन्दू से नीच नहीं हो, चाहे वह अपने को कितना ही ऊँचा समझता हो।

बूढ़ा—तुम्हारी सभा हम लोगों की सुध क्यों नहीं लेती?

लीलाधर—हिन्दू-सभा का जन्म अभी थोड़े ही दिन हुए हुआ है, और इस अल्पकाल में उसने जितने काम किये हैं, उन

पर उसे अभिमान हो सकता है। हिन्दू-जाति शताब्दियों के बाद गहरी नींद से चौंकी है, और अब वह समय निकट है, जब भारतवर्ष में कोई हिन्दू किसी हिन्दू को नीच न समझेगा, जब वह सब एक दूसरे को भाई समझेंगे। श्रीरामचन्द्र ने निषाद को छाती से लगाया था, शबरी के जूठे बेर खाये थे...।

बूढ़ा—आप जब इन्हीं महात्माओं की संतान हैं, तो फिर ऊँच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं ?

लीलाधर—इसलिए कि हम पतित हो गये हैं—अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गये हैं।

बूढ़ा—अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे ?

लीलाधर—मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा—मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजियेगा ?

लीलाधर—जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जायँ, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का संबंध नहीं कर सकते। मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो।

बूढ़ा—हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते ; और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं ; पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह-संबंध करने में आपको कदाचित् इनकार न होगा। जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं ? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है। जाइये, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का सुधार कीजिये। हमारा उद्धार आपके किये न होगा। हिन्दू-समाज में रहकर हमारे माथे

से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान्, कितने ही आचारवान् हो जायँ, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे। हिन्दुओं की आत्मा मर गई है, और उसका स्थान अहंकार ने ले लिया है। हम अब उस देवता की शरण जा रहे हैं, जिसके माननेवाले हमसे गले मिलने को आज ही तैयार हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम अपने संस्कार बदलकर आओ। हम अच्छे हैं या बुरे, वे इसी दशा में हमें अपने पास बुला रहे हैं। आप अगर ऊँचे हैं, तो ऊँचे बने रहिये। हमें उड़ना न पड़ेगा।

लीलाधर—एक ऋषि-संतान के मुँह से ऐसी बात सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। वर्ण-भेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो ?

बूढ़ा—ऋषियों को मत बदनाम कीजिये। यह सब पाखंड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं—तुम मदिरा पीते हो; लेकिन आप मदिरा पीनेवालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं; लेकिन आप गो-मांस खानेवालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसीलिए न कि वे आप से बलवान् हैं ? हम भी आज राजा हो जायँ, तो आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे। आपके धर्म में वही ऊँचा है, जो बलवान् है, वही नीच है, जो निर्बल है। यही आपका धर्म है ?

यह कहकर बूढ़ा वहाँ से चला गया, और उसके साथ ही और लोग भी उठ खड़े हुए। केवल चौबेजी और उनके दलवाले मंच पर रह गये, मानो गान समाप्त हो जाने के बाद उसकी प्रतिध्वनि वायु में गूँज रही हो।

(४)

तबलीग़वालों ने जब से चौबेजी के आने की ख़बर सुनी थी, इस फ़िक्र में थे कि किसी उपाय से इन सबको यहाँ से दूर

करना चाहिये। चौबेजी का नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। जानते थे, यह यहाँ जम गया, तो हमारी सारी की-कराई मिहनत व्यर्थ हो जायगी। इसके क़दम यहाँ जमने न पावें। मुल्लाओं ने उपाय सोचना शुरू किया। बहुत वाद-विवाद, हुज्जत और दलील के बाद निश्चय हुआ कि इस काफ़िर को क़त्ल कर दिया जाय। ऐसा सवाब लूटने के लिए आदमियों की क्या कमी? उसके लिए तो जन्नत का दरवाज़ा खुल जायगा, हूरें उसकी बलाएँ लेंगी, फ़रिश्ते उसके क़दमों की ख़ाक का सुरमा बनाएँगे, रसूल उसके सर पर बरक़त का हाथ रखेंगे, खुदावंद-क़रीम उसे सीने से लगाएँगे और कहेंगे—तू मेरा प्यारा दोस्त है। दो हट्टे-कट्टे जवानों ने तुरन्त बीड़ा उठा लिया।

रात के दस बज गये थे। हिन्दू-सभा के कैंप में सन्नाटा था। केवल चौबेजी अपनी रावटी में बैठे हिन्दू-सभा के मंत्री को पत्र लिख रहे थे—यहाँ सबसे बड़ी आवश्यकता धन की है। रुपया, रुपया, रुपया! जितना भेज सकें, भेजिये। डेपुटेशन भेज कर वसूल कीजिये, मोटे महाजनों की जेब टटोलिये, भिक्षा माँगिये। बिना धन के इन अभागों का उद्धार न होगा। जब तक कोई पाठशाला न खुले, कोई चिकित्सालय न स्थापित हो, कोई वाचनालय न हो, इन्हें कैसे विश्वास आयेगा कि हिंदू-सभा उनकी हितचिंतक है। तबलीग़वाले जितना ख़र्च कर रहे हैं, उसका आधा भी मुझे मिल जाय, तो हिन्दू-धर्म की पताका फहराने लगे। केवल व्याख्यानों से काम न चलेगा। असीसों से कोई जिंदा नहीं रहता।

सहसा किसी की आहट पाकर वह चौंक पड़े। आँखें ऊपर उठाईं तो देखा, दो आदमी सामने खड़े हैं। पंडितजी ने शंकित होकर पूछा—तुम कौन हो, क्या काम है?

उत्तर मिला—हम इज़राईल के फ़रिश्ते हैं। तुम्हारी रूह

क़ब्ज़ करने आये हैं। हज़रत इज़राईल ने तुम्हें याद किया है।

पंडितजी यों बहुत ही बलिष्ठ पुरुष थे, उन दोनो को एक धक्के में गिरा सकते थे। प्रातःकाल तीन-पाव मोहनभोग और दो सेर दूध का नाश्ता करते थे। दोपहर के समय पाव-भर घी दाल में खाते, तीसरे पहर दूधिया भंग छानते, जिसमें सेर भर मलाई और आध सेर बादाम मिली रहती। रात को डटकर ब्यालू करते; क्योंकि प्रातःकाल तक फिर कुछ न खाते थे। इस पर तुर्रा यह कि पैदल पग भर भी न चलते थे। पालकी मिले, तो पूछना ही क्या, जैसे घर का पलंग उड़ा जा रहा हो। कुछ न हो, तो इक्का तो था ही; यद्यपि काशी में दो-ही चार इक्केवाले ऐसे थे, जो उन्हें देखकर कह न दें कि 'इक्का खाली नहीं है।' ऐसा मनुष्य नर्म अखाड़े में पट पड़कर ऊपरवाले पहलवान को थका सकता था, चुस्ती और फुर्ती के अवसर पर तो वह रेत पर निकला हुआ कछुआ था।

पण्डितजी ने एक बार कनखियों से दरवाज़े की तरफ़ देखा। भागने का कोई मौक़ा न था। तब उनमें साहस का संचार हुआ। भय की पराकाष्ठा ही साहस है। अपने सोटे की तरफ़ हाथ बढ़ाया, और गरजकर बोले—निकल जाओ यहाँ से...!

बात मुँह से पूरी न निकली थी, कि लाठियों का वार पड़ा। पंडितजी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। शत्रुओं ने समीप आकर देखा, जीवन का कोई लक्षण न था। समझ गये, काम तमाम हो गया। लूटने का तो विचार न था; पर जब कोई पूछनेवाला न हो, तो हाथ बढ़ाने में क्या हर्ज ? जो कुछ हाथ लगा, ले-देकर चलते हुए।

(५)

प्रातःकाल बूढ़ा भी उधर से निकला, तो सन्नाटा छाया हुआ

था—न आदमी न आदमज़ाद। छोलदारियाँ भी ग़ायब ! चकराया, यह माजरा क्या है ! रात-ही भर में अलादीन के महल की तरह सब कुछ गायब हो गया। उन महात्माओं में से एक भी नज़र नहीं आता, जो प्रातःकाल मोहनभोग उड़ाते और संध्या समय भंग घोटते दिखाई देते थे। ज़रा और समीप जाकर पंडित लीलाधर की रावटी में झाँका, तो कलेजा सन्न से हो गया। पण्डितजी ज़मीन पर मुर्दे की तरह पड़े हुए थे। मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। सिर के बालों में रक्त ऐसा जम गया था, जैसे किसी चित्रकार के ब्रश में रंग। सारे कपड़े लहूलुहान हो रहे थे। समझ गया, पंडितजी के साथियों ने उन्हें मारकर अपनी राह ली। सहसा पंडितजी के मुँह से कराहने की आवाज़ निकली। अभी जान बाक़ी थी। बूढ़ा तुरन्त दौड़ा हुआ गाँव में गया, और कई आदमियों को लाकर पंडितजी को अपने घर उठवा ले गया।

मरहम-पट्टी होने लगी। बूढ़ा दिन-के-दिन और रात-की-रात पण्डितजी के पास बैठा रहता। उसके घरवाले उनकी सुश्रुषा में लगे रहते ! गाँववाले भी यथाशक्ति सहायता करते। इस बेचारे का यहाँ कौन अपना बैठा हुआ है ? अपने हैं तो हम, बेगाने हैं तो हम। हमारे ही उद्धार के लिए तो बेचारा यहाँ आया था, नहीं तो यहाँ उसे क्या लेना था ? कई बार पण्डितजी अपने घर पर बीमार पड़ चुके थे ; पर उनके घरवालों ने इतनी तन्मयता से कभी उनकी तीमारदारी न की थी। सारा घर, और घर ही नहीं, सारा गाँव उनका गुलाम बना हुआ था। अतिथि-सेवा उनके धर्म का एक अङ्ग थी। सभ्य-स्वार्थ ने अभी उस भाव का गला नहीं घोंटा था। साँप का मन्त्र जाननेवाला देहाती अब भी माघ-पूस की अँधेरी मेघाच्छन्न रात्रि में मन्त्र झाड़ने के लिए दस-पाँच कोस पैदल दौड़ता हुआ चला जाता

है। उसे डबल फीस और सवारी की ज़रूरत नहीं होती। बूढ़ा मल-मूत्र तक अपने हाथों उठाकर फेंकता, पंडितजी की घुड़कियाँ सुनता, सारे गाँव से दूध माँगकर उन्हें पिलाता। पर उसकी त्योरियाँ कभी मैली न होतीं। अगर उसके कहीं चले जाने पर घरवाले लापरवाही करते तो आकर सबको डाटता।

महीने-भर के बाद पण्डितजी चलने-फिरने लगे, और अब उन्हें ज्ञात हुआ कि इन लोगों ने मेरे साथ कितना उपकार किया है। इन्हीं लोगों का काम था कि मुझे मौत के मुँह से निकाला, नहीं तो मरने में क्या कसर रह गई थी? उन्हें अनुभव हुआ कि मैं जिन लोगों को नीच समझता था, और जिनके उद्धार का बीड़ा उठाकर आया था, वे मुझसे कहीं ऊँचे हैं। इस परिस्थिति में कदाचित् रोगी को किसी अस्पताल भेजकर ही अपनी कर्तव्यनिष्ठा पर गर्व करता; समझता—मैंने दधीचि और हरिश्चन्द्र का मुख उज्ज्वल कर दिया। उनके रोएँ-रोएँ से इन देव-तुल्य प्राणियों के प्रति आशीर्वाद निकलने लगा।

(६)

तीन महीने गुज़र गये। न तो हिन्दू सभा ने पण्डितजी की ख़बर ली, और न घरवालों ने। सभा के मुख-पत्र में उनकी मृत्यु पर आँसू बहाये गये, उनके कामों की प्रशंसा की गई, और उनका स्मारक बनाने के लिए चन्दा खोल दिया गया। घरवाले भी रो पीटकर बैठ रहे।

उधर पण्डितजी दूध और घी खाकर चौक-चौबन्द हो गये। चेहरे पर खून की सुर्ख़ी दौड़ गई, देह भर आई। देहात के जल-वायु ने वह काम कर दिखाया, जो कभी मलाई और मक्खन से न हुआ था। पहले की तरह तैयार तो वह न हुए; पर फुर्ती और चुस्ती दुगुनी हो गई। मोटाई का आलस्य अब

नाम को भी न था। उनमें एक नये जीवन का संचार हो गया।

जाड़ा शुरू हो गया था। पण्डितजी घर लौटने की तैयारियाँ कर रहे थे। इतने में प्लेग का आक्रमण हुआ, और गाँव के तीन आदमी बीमार हो गये। बूढ़ा चौधरी भी उन्हीं में था। घरवाले इन रोगियों को छोड़कर भाग खड़े हुए। वहाँ का दस्तूर था, कि जिन बीमारियों को वे लोग दैवी कोप समझते थे, उनके रोगियों को छोड़कर चले जाते थे। उन्हें बचाना देवताओं से बैर लेना था, और देवताओं से बैर करके कहाँ जाते? जिस प्राणी को देवताओं ने चुन लिया, उसे भला वे उसके हाथों से छीनने का साहस कैसे करते? पण्डितजी को भी लोगों ने साथ ले जाना चाहा; किन्तु पण्डितजी न गये। उन्होंने गाँव में रहकर रोगियों की रक्षा करने का निश्चय किया। जिस प्राणी ने उन्हें मौत के पंजे से छुड़ाया था, उसे इस दशा में छोड़कर वह कैसे जाते? उपकार ने उनकी आत्मा को जगा दिया था। बूढ़े चौधरी ने तीसरे दिन होश आने पर जब उन्हें अपने पास खड़े देखा, तो बोला—महाराज, तुम यहाँ क्यों आ गये? मेरे लिए देवताओं का हुक्म आ गया है। अब मैं किसी तरह नहीं रुक सकता। तुम क्यों अपनी जान जोखिम में डालते हो? मुझ पर दया करो, चले जाओ।

लेकिन पण्डितजी पर कोई असर न हुआ। वह बारी-बारी से तीनों रोगियों के पास जाते, और कभी उनकी गिल्टियाँ सेंकते, कभी उन्हें पुराणों की कथाएँ सुनाते। घरों में नाज, बरतन आदि सब ज्यों-के-त्यों रखे हुए थे। पंडितजी पथ्य बना-बनाकर रोगियों को खिलाते। रात को जब रोगी भी सो जाते, और सारा गाँव भायँ-भायँ करने लगता, तो पंडितजी को भाँति-भाँति के भयंकर जन्तु दिखाई देते। उनके कलेजे में धड़कन होने लगती; लेकिन वहाँ से टलने का नाम न लेते। उन्होंने निश्चय कर

लिया था कि या तो इन लोगों को बचा ही लूँगा, या इन पर अपने को बलिदान ही कर दूँगा।

जब तीन दिन सेंक-बाँध करने पर भी रोगियों की हालत न सँभली, तो पंडितजी को बड़ी चिन्ता हुई। शहर वहाँ से बीस मील पर था। रेल का कहीं पता नहीं, रास्ता बीहड़ और साथी कोई नहीं। इधर यह भय कि अकेले रोगियों की न जाने क्या दशा हो। बेचारे बड़े संकट में पड़े। अन्त को चौथे दिन, पहर रात रहे, वह अकेले ही शहर को चल दिये और दस बजते-बजते वहाँ जा पहुँचे। अस्पताल से दवा लेने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। गँवारों से अस्पतालवाले दवाओं का मनमाना दाम वसूल किया करते थे। पण्डितजी को मुफ्त क्यों देने लगे? डाक्टर के मुन्शी ने कहा—दवा तैयार नहीं है।

पण्डितजी ने गिड़गिड़ाकर कहा—सरकार, बड़ी दूर से आया हूँ। कई आदमी बीमार पड़े हैं। दवा न मिलेगी, तो सब मर जायँगे।

मुन्शी ने बिगड़कर कहा—क्यों सिर खाये जाते हो? कह तो दिया, दवा तैयार नहीं है, और न इतनी जल्द तैयार हो सकती है।

पण्डितजी अत्यन्त दीनभाव से बोले—सरकार, ब्राह्मण हूँ, आपके बाल-बच्चों को भगवान् चिरञ्जीवी करें, दया कीजिये। आपका अक़बाल चमकता रहे।

रिश्वती कर्मचारियों में दया कहाँ? वे तो रुपए के ग़ुलाम हैं। ज्यों ज्यों पण्डितजी उसकी खुशामद करते थे, वह और भी झल्लाता था। अपने जीवन में पण्डितजी ने कभी इतनी दीनता न प्रकट की थी। उनके पास इस वक्त एक धेला भी न था; अगर वह जानते कि, दवा मिलने में इतनी दिक्क़त होगी, तो गाँववालों से ही कुछ माँग-जाँचकर लाये होते। बेचारे हतबुद्धि-

से खड़े सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिये ? सहसा डाक्टर साहब स्वयं बंगले से निकल आये। पण्डितजी लपककर उनके पैरों पर गिर पड़े, और करुण-स्वर में बोले—दीनबंधु मेरे घर के तीन आदमी ताऊन में पड़े हुए हैं। बड़ा ग़रीब हूँ सरकार कोई दवा मिले।

डाक्टर साहब के पास ऐसे ग़रीब लोग नित्य आया करते थे। उनके चरणों पर किसी का गिर पड़ना, उनके सामने पड़े हुए आर्तनाद करना, उनके लिए कुछ नई बातें न थीं; अगर इस तरह वह दया करने लगते तो दया ही भर को होते, यह ठाट-बाट कहाँ से निभता ? मगर दिल के चाहे कितने ही बुरे हों, बातें मीठी-मीठी करते थे; पैर हटाकर बोले—रोगी कहाँ है ?

पण्डित—सरकार, वे तो घर पर हैं। इतनी दूर कैसे लाता ?

डाक्टर—रोगी घर, और तुम दवा लेने आया है। कितना मजे का बात है। रोगी को देखे बिना कैसे दवा दे सकता है ?

पण्डितजी को अपनी भूल मालूम हुई। वास्तव में बिना रोगी को देखे रोग की पहचान कैसे हो सकती है; लेकिन तीन-तीन रोगियों को इतनी दूर लाना आसान न था, अगर गाँववाले उनकी सहायता करते, तो डोलियों का प्रबन्ध हो सकता था; पर वहाँ तो सब कुछ अपने ही बूते पर करना था, गाँववालों से इसमें सहायता मिलने की कोई आशा न थी। सहायता की कौन कहे, वे तो उनके शत्रु हो रहे थे। उन्हें भय होता था कि यह दुष्ट देवताओं से बैर बढ़ाकर हम लोगों पर न जाने क्या विपत्ति लायेगा; अगर कोई दूसरा आदमी होता, तो वह उसे कब का मार चुके होते। पण्डितजी से उन्हें प्रेम हो गया था; इसीलिए छोड़ दिया था।

वह जवाब सुनकर पण्डितजी को कुछ बोलने का साहस तो न होता था; पर कलेजा मज़बूत करके बोले—सरकार, अब

कुछ नहीं हो सकता ?

डाक्टर—अस्पताल से दवा नहीं मिल सकता। हम अपने पास से, दाम लेकर दवा दे सकता है।

पण्डित—यह दवा कितने की होगी सरकार ?

डाक्टर साहब ने दवा का दाम १०) बतलाया, और यह भी कहा कि इस दवा से जितना लाभ होगा, उतना अस्पताल की दवा से नहीं हो सकता। बोले—वहाँ पुराना दवाई रखा रहता है। ग़रीब लोग आता है, दवाई ले जाता है; जिसको जीना होता है, जीता है, जिसे मरना होता है, मरता है, हमसे कुछ मतलब नहीं। हम तुमको जो दवा देगा, वह सच्चा दवा होगा।

दस रुपए!—इस समय पण्डितजी को दस रुपए दस लाख जान पड़े। इतने रुपए वह एक दिन में भंग-बूटी में उड़ा दिया करते थे; पर इस समय तो धेले-धेले को मुहताज थे। किसी से उधार मिलने की आशा कहाँ। हाँ, संभव है, भिक्षा माँगने से कुछ मिल जाय; लेकिन इतनी जल्द दस रुपए किसी उपाय से भी न मिल सकते थे। आध घण्टे तक वह इसी उधेड़-बुन में खड़े रहे। भिक्षा के सिवा दूसरा कोई उपाय न सूझता था, और भिक्षा उन्होंने कभी माँगी न थी। वह चंदे जमा कर चुके थे, एक-एक बार में हज़ारों वसूल कर लेते थे; पर वह दूसरी बात थी। धर्म के रक्षक, जाति के सेवक, और दलितों के उद्धारक बनकर चंदा लेने में एक गौरव था, चंदा लेकर वह देनेवालों पर एहसान करते थे; पर यहाँ तो भिखारियों की भाँति हाथ फैलाना, गिड़गिड़ाना और फटकारें सहनी पड़ेंगी। कोई कहेगा—इतने मोटे-ताजे तो हो, मिहनत क्यों नहीं करते, तुम्हें भीख माँगते शर्म भी नहीं आती? कोई कहेगा—घास खोद लाओ, मैं तुम्हें अच्छी मजदूरी दूँगा। किसी को उनके ब्राह्मण होने का

विश्वास न आयेगा! अगर यहाँ उनकी रेशमी अचकन और रेशमी साफा होता, केसरिया रंग.वाला दुपट्टा ही मिल जाता, तो वह कोई स्वांग भर लेते। ज्योतिषी बनकर वह किसी धनी सेठ को फाँस सकते थे, और इस फन में वह उस्ताद भी थे; पर यहाँ वह सामान कहाँ—कपड़े-लत्ते तो सब लुट चुके थे। विपत्ति में कदाचित् बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। अगर वह मैदान में खड़े होकर कोई मनोहर व्याख्यान दे देते, तो शायद उनके दस-पाँच भक्त पैदा हो जाते; लेकिन इस तरफ़ उनका ध्यान ही न गया। वह सजे हुए पंडाल में, फूलों से सुसज्जित मेज़ के सामने, मंच पर खड़े होकर अपनी वाणी का चमत्कार दिखला सकते थे। इस दुरवस्था में कौन उनका व्याख्यान सुनेगा? लोग समझेंगे, कोई पागल बक रहा है।

मगर दोपहर ढली जा रही थी, अधिक सोच-विचार का अवकाश न था। यहीं सन्ध्या हो गई, तो रात को लौटना असम्भव हो जायगा। फिर रोगियों की न जाने क्या दशा हो, वह अब इस अनिश्चित दशा में खड़े न रह सके। चाहे जितना तिरस्कार हो, कितना ही अपमान सहना पड़े, भिक्षा के सिवा और कोई उपाय न था।

वह बाजार में जाकर एक दूकान के सामने खड़े हो गये; पर कुछ माँगने की हिम्मत न पड़ी।

दूकानदार ने पूछा—क्या लोगे?

पण्डितजी बोले—चावल का क्या भाव है?

मगर दूसरी दूकान पर पहुँचकर वह ज्यादा सावधान हो गये। सेठजी गद्दी पर बैठे हुए थे। पंडितजी आकर उनके सामने खड़े हो गये, और गीता का एक श्लोक पढ़ सुनाया। उनका शुद्ध उच्चारण और मधुर वाणी सुनकर सेठजी चकित हो गये, पूछा—कहाँ स्थान है?

पण्डित—काशी से आ रहा हूँ।

यह कहकर पण्डितजी ने सेठजी से धर्म के दसों लक्षण बतलाये और श्लोक की ऐसी अच्छी व्याख्या की कि वह मुग्ध हो गये। बोले—महाराज, आज चलकर मेरे स्थान को पवित्र कीजिये।

कोई स्वार्थी आदमी होता, तो इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता; लेकिन पण्डितजी को तो लौटने की पड़ी थी। बोले—नहीं सेठजी, मुझे अवकाश नहीं है।

सेठ—महाराज, आपको हमारी इतनी ख़ातिरी करनी पड़ेगी।

पंडितजी जब किसी तरह ठहरने पर राज़ी न हुए, तो सेठजी ने उदास होकर कहा—फिर हम आपकी क्या सेवा करें? कुछ आज्ञा दीजिये। आपकी वाणी से तो तृप्ति नहीं हुई। फिर कभी इधर आना हो, तो अवश्य दर्शन दीजियेगा।

पंडित—आपकी इतनी श्रद्धा है, तो अवश्य आऊँगा।

यह कहकर पंडितजी फिर उठ खड़े हुए। संकोच ने फिर उनकी ज़बान बन्द कर दी। यह आदर-सत्कार इसलिए तो है कि मैं अपना स्वार्थ-भाव छिपाये हुए हूँ। कोई इच्छा प्रकट की और इनकी आँखें बदलीं। सूखा जवाब चाहे न मिले; पर यह श्रद्धा न रहेगी। वह नीचे उतर गये, और सड़क पर एक क्षण के लिए खड़े होकर सोचने लगे--अब कहाँ जाऊँ? उधर जाड़े का दिन किसी विलासी के धन की भाँति भागा चला जाता था। वह अपने ही ऊपर झुँझला रहे थे—जब किसी से माँगूँगा ही नहीं, तो कोई क्यों देने लगा? कोई क्या मेरे मन का हाल जानता है? वे दिन गये, जब धनी लोग ब्राह्मणों की पूजा किया करते थे। यह आशा छोड़ दो कि कोई महाशय आकर तुम्हारे हाथ में रुपए रख देंगे। वह धीरे-धीरे आगे बढ़े।

सहसा सेठजी ने पीछे से पुकारा--पण्डितजी, जरा ठहरिये।

पण्डितजी ठहर गये। फिर घर चलने के लिए आग्रह करने आता होगा। यह तो न हुआ कि एक दस रुपए का नोट लाकर दे देता, मुझे घर ले जाकर न जाने क्या करेगा!

मगर जब सेठजी ने सचमुच एक गिनी निकालकर उनके पैरों पर रख दी, तो उनकी आँखों में एहसान के आँसू उछल आये। हैं, अब भी सच्चे धर्मात्मा जीव संसार में हैं, नहीं तो यह पृथ्वी रसातल न चली जाती! अगर इस वक्त उन्हें सेठजी के कल्याण के लिए अपनी देह का सेर-आधसेर रक्त भी देना पड़ता, तो भी शौक़ से दे देते। गद्गद् कण्ठ से बोले—इसका तो कुछ काम न था सेठजी! मैं भिक्षुक नहीं हूँ, आपका सेवक हूँ।

सेठजी श्रद्धा-विनय-पूर्ण शब्दों में बोले—भगवन्, इसे स्वीकार कीजिये। यह दान नहीं, भेंट है। मैं भी आदमी पहचानता हूँ। बहुतेरे साधु-संत, योगी-यती, देश और धर्म के सेवक आते रहते हैं; पर न जाने क्यों, किसी के प्रति मेरे मन में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। उनसे किसी तरह पिण्ड छुड़ाने की पड़ जाती है। आपका संकोच देखकर मैं समझ गया कि आपका यह पेशा नहीं है। आप विद्वान् हैं, धर्मात्मा हैं; पर किसी संकट में पड़े हुए हैं। इस तुच्छ भेंट को स्वीकार कीजिये और मुझे आशीर्वाद दीजिये।

(७)

पंडितजी दवाएँ लेकर घर चले, तो हर्ष, उल्लास और विजय से उनका हृदय उछला पड़ता था। हनूमान भी संजीवन-बूटी लाकर इतने प्रसन्न न हुए होंगे। ऐसा सच्चा आनन्द उन्हें कभी प्राप्त न हुआ था। उनके हृदय में इतने पवित्र भावों का संचार कभी न हुआ था।

दिन बहुत थोड़ा रह गया था। सूर्यदेव अविरल गति से पश्चिम की ओर दौड़ते चले जाते थे। क्या उन्हें भी किसी रोगी को दवा देनी थी? वह बड़े वेग से दौड़ते हुए एक पर्वत की ओट में छिप गये। पण्डितजी और भी फुर्ती से पाँव बढ़ाने लगे, मानो उन्होंने सूर्यदेव को पकड़ लेने की ठानी हो।

देखते-देखते अँधेरा छा गया। आकाश में दो-एक तारे दिखाई देने लगे। अभी दस मील की मंज़िल बाक़ी थी। जिस तरह काली घटा को सिर पर मँडराते देखकर गृहिणी दौड़-दौड़ सुखावन समेटने लगती है, उसी भाँति लीलाधर ने दौड़ना शुरू किया। उन्हें अकेले पड़ जाने का भय था, भय था अँधेरे में राह भूल जाने का। दाहने-बाएँ बस्तियाँ छूटती जाती थीं। पण्डितजी को ये गाँव इस समय बहुत ही सुहावने मालूम होते थे। कितने आनन्द से लोग अलाव के सामने बैठे ताप रहे हैं!

सहसा उन्हें एक कुत्ता दिखाई दिया। न जाने किधर से आकर वह उनके सामने पगडंडी पर चलने लगा। पण्डितजी चौंक पड़े; पर एक क्षण में उन्होंने कुत्ते को पहचान लिया। वह बूढ़े चौधरी का कुत्ता मोती था। वह गाँव छोड़कर आज इधर इतनी दूर कैसे आ निकला? क्या वह जानता था कि पण्डितजी दवा लेकर आ रहे होंगे, कहीं रास्ता न भूल जायँ? कौन जानता है, पण्डितजी ने एक बार मोती कहकर पुकारा, तो कुत्ते ने दुम हिलाई; पर रुका नहीं। वह इससे अधिक परिचय देकर समय नष्ट न करना चाहता था। पण्डितजी को ज्ञात हुआ कि ईश्वर मेरे साथ हैं, वही मेरी रक्षा कर रहे हैं। अब उन्हें कुशल से घर पहुँचने का विश्वास हो गया।

दस बजते-बजते पण्डितजी घर पहुँच गये।

• • •

रोग घातक न था; पर यश पण्डितजी को बदा था। एक

सप्ताह के बाद तीनों रोगी चंगे हो गये। पण्डितजी की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। उन्होंने यम-देवता से घोर संग्राम करके इन आदमियों को बचा लिया था। उन्होंने देवताओं पर भी विजय पा ली थी—असम्भव को संभव कर दिखाया था। वह साक्षात् भगवान् थे। उनके दर्शनों के लिए लोग दूर-दूर से आने लगे; किन्तु पण्डितजी को अपनी कीर्ति से इतना आनन्द न होता था, जितना रोगियों को चलते-फिरते देखकर।

चौधरी ने कहा—महाराज, तुम साच्छात भगवान् हो। तुम न आ जाते, तो हम न बचते।

पण्डितजी बोले—मैंने कुछ नहीं किया। यह सब ईश्वर की दया है।

चौधरी—अब हम तुम्हें कभी न जाने देंगे। जाकर अपने बाल-बच्चों को ले आओ।

पण्डित—हाँ, मैं भी यही सोच रहा हूँ। तुमको छोड़कर अब नहीं जा सकता।

(८)

मुल्लाओं ने मैदान खाली पाकर आस-पास के देहातों में ख़ूब ज़ोर बाँध रखा था। गाँव के गाँव मुसलमान होते जाते थे। उधर हिन्दू-सभा ने सन्नाटा खींच लिया था। किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि इधर आये। लोग दूर बैठे हुए मुसलमानों पर गोला-बारूद चला रहे थे। इस हत्या का बदला कैसे लिया जाय, यही उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी। अधिकारियों के पास बार-बार प्रार्थना-पत्र भेजे जा रहे थे कि इस मामले की छान-बीन की जाय, और बार-बार यही जवाब मिलता था कि हत्याकारियों का पता नहीं चलता। उधर पण्डितजी के स्मारक के लिए चन्दा भी जमा किया जा रहा था।

मगर इस नई ज्योति ने मुल्लाओं का रंग फीका कर दिया।

यहाँ एक ऐसे देवता का अवतार हुआ था, जो मुर्दों को जिला देता था, जो अपने भक्तों के कल्याण के लिए अपने प्राणों को बलिदान कर सकता था। मुल्लाओं के यहाँ यह सिद्धि कहाँ, यह विभूति कहाँ, यह चमत्कार कहाँ ? इस ज्वलन्त उपकार के सामने जन्नत और अख़ूबत (भ्रातृ-भाव) की कोरी दलीलें कब ठहर सकती थीं ? पण्डितजी अब वह अपने ब्राह्मणत्व पर घमण्ड करनेवाले पण्डितजी न थे। उन्होंने शूद्रों और भीलों का आदर करना सीख लिया था। उन्हें छाती से लगाते हुए अब पण्डितजी को घृणा न होती थी। अपना घर अँधेरा पाकर ही ये इसलामी-दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया, तो इन्हें दूसरों के यहाँ जाने की क्या ज़रूरत थी। सनातनधर्म की विजय हो गई। गाँव-गाँव में मन्दिर बनने लगे और शाम-सबेरे मन्दिरों से शंख और घण्टे की ध्वनि सुनाई देने लगी। लोगों के आचरण आप ही आप सुधरने लगे। पण्डितजी ने किसी को शुद्ध नहीं किया। उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी—मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूँगा, पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ। ऐसी निर्मल, पवित्र आत्माओं को शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता।

यह मन्त्र था, जो उन्होंने उन चांडालों से सीखा था; और इसी के बल से वह अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हुए थे।

पण्डितजी अभी जीवित हैं; पर अब सपरिवार उसी प्रांत में, उन्हीं भीलों के साथ, रहते हैं।

कामना-तरु

राजा इन्द्रनाथ का देहान्त हो जाने के बाद कुँअर राजनाथ को शत्रुओं ने चारो ओर से ऐसा दबाया, कि उन्हें अपने प्राण लेकर एक पुराने सेवक की शरण जाना पड़ा, जो एक छोटे-से गाँव का जागीरदार था। कुँअर स्वभाव ही से शांति-प्रिय, रसिक, हँस-खेलकर समय काटनेवाले युवक थे। रण-क्षेत्र की अपेक्षा कवित्व के क्षेत्र में अपना चमत्कार दिखाना उन्हें अधिक प्रिय था। रसिकजनों के साथ, किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए, काव्य-चरचा करने में उन्हें जो आनन्द मिलता था, वह शिकार या राज-दरबार में नहीं। इस पर्वत-मालाओं से घिरे हुए गाँव में आकर उन्हें जिस शांति और आनन्द का अनुभव हुआ, उसके बदले में वह ऐसे-ऐसे कई राज्य त्याग कर सकते थे। यह पर्वत-मालाओं की मनोहर छटा, यह नेत्ररंजक हरियाली, यह जल-प्रवाह की मधुर बीणा, यह पक्षियों की मीठी बोलियाँ, यह मृग-शावकों की छलाँगें यह बछड़ों की कुलेलें, यह ग्रामनिवासियों की बालोचित सरलता, यह रमणियों की संकोच-मय चपलता! ये सभी बातें उनके लिए नई थीं; पर इन सबों से बढ़कर जो वस्तु उनको आकर्षित करती थी, वह जागीरदार की युवती कन्या चन्दा थी।

चन्दा घर का सारा काम-काज आप ही करती थी। उसको

माता की गोद में खेलना नसीब ही न हुआ था। पिता की सेवा ही में रत रहती थी। उसका विवाह इसी साल होनेवाला था, कि इसी बीच में कुँअरजी ने आकर उसके जीवन में नवीन भावनाओं और नवीन आशाओं को अंकुरित कर दिया। उसने अपने पति का जो चित्र मन में खींच रखा था, वही मानो रूप धारण करके उसके सम्मुख आ गया। कुँअर की आदर्श रमणी भी चन्दा ही के रूप में अवतरित हो गई; लेकिन कुँअर समझते थे—मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? चन्दा भी समझती थी कहाँ यह और कहाँ मैं!—

(२)

दोपहर का समय था और जेठ का महीना। खपरैल का घर भट्टी की भाँति तपने लगा। खस की टट्टियों और तहखानों में रहनेवाले राजकुमार का चित्त गरमी से इतना बेचैन हुआ कि वह बाहर निकल आये और और सामने के बाग़ में जाकर एक घने वृक्ष की छाँह में बैठ गये। सहसा उन्होंने देखा—चन्दा नदी से जल की गागर लिये चली आ रही है। नीचे जलती हुई रेत थी, ऊपर जलता हुआ सूर्य। लू से देह झुलसी जाती थी। कदाचित् इस समय प्यास से तड़पते हुए आदमी की भी नदी तक जाने की हिम्मत न पड़ती। चन्दा क्यों जल लेने गई थी? घर में पानी भरा हुआ है। फिर इस समय वह क्यों पानी लेने निकली?

कुँअर दौड़कर उसके पास पहुँचे और उसके हाथ से गागर छीन लेने की चेष्टा करते हुए बोले—मुझे दे दो और भागकर छाँह में चली जाओ। इस समय पानी का क्या काम था?

चन्दा ने गागर न छोड़ी। सिर से खिसका हुआ अञ्चल सँभालकर बोली—तुम इस समय कैसे आ गये? शायद मारे गरमी के अन्दर न रह सके?

कुँअर—मुझे दे दो, नहीं मैं छीन लूँगा।

चन्दा ने मुसकिराकर कहा—राजकुमारों को गागर लेकर चलना शोभा नहीं देता।

कुँअर ने गागर का मुँह पकड़कर कहा—इस अपराध का बहुत दंड सह चुका हूँ। चन्दा, अब तो अपने को राजकुमार कहने में भी लज्जा आती है।

चन्दा—देखो धूप में खुद हैरान होते हो और मुझे भी हैरान करते हो। गागर छोड़ दो। सच कहती हूँ, पूजा का जल है

कुँअर—क्या मेरे ले जाने से पूजा का जल अपवित्र हो जायगा?

चन्दा—अच्छा भाई नहीं मानते, तो तुम्हीं ले चलो। हाँ नहीं तो!

कुँअर गागर लेकर आगे-आगे चले। चन्दा पीछे हो ली। बग़ीचे में पहुँचे, तो चन्दा एक छोटे-से पौधे के पास रुककर बोली—इसी देवता की पूजा करनी है, गागर रख दो। कुँअर ने आश्चर्य से पूछा—यहाँ कौन देवता है चन्दा? मुझे तो नहीं नज़र आता!

चन्दा ने पौधे को सींचते हुए कहा—यही तो मेरा देवता है!

पानी पाकर पौधे की मुरझाई हुई पत्तियाँ हरी हो गईं, मानो उनकी आँखें खुल गई हों।

कुँअर ने पूछा—यह पौधा क्या तुमने लगाया है चन्दा?

चन्दा ने पौधे को एक सीधी लकड़ी से बाँधते हुए कहा—हाँ, उसी दिन तो, जब तुम यहाँ आये। यहाँ पहले मेरी गुड़ियों का घरौंदा था। मैंने गुड़ियों पर छाँह करने के लिए एक अमोला लगा दिया था। फिर मुझे इसकी याद नहीं रही। घर के काम-धन्धे में भूल गई। जिस दिन तुम यहाँ आये, मुझे न जाने क्यों इस पौधे की याद आ गई। मैंने आकर देखा, तो वह सूख गया

था। मैंने तुरंत पानी लाकर इसे सींचा, तो कुछ-कुछ ताज़ा होने लगा। तब से रोज़ इसे सींचती हूँ। देखो कितना हरा-भरा हो गया है!

यह कहते-कहते उसने सिर उठाकर कुँअर की ओर ताकते हुए कहा—और सब काम भूल जाऊँ; पर इस पौधे को पानी देना नहीं भूलती। तुम्हीं इसके प्राण-दाता हो। तुम्हीं ने आकर इसे जिला दिया, नहीं तो बेचारा सूख गया होता। यह तुम्हारे शुभागमन का स्मृति-चिन्ह है। ज़रा इसे देखो। मालूम होता है, हँस रहा है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह मुझसे बोलता है। सच कहती हूँ, कभी यह रोता है, कभी हँसता है, कभी रूठता है; आज तुम्हारा लाया हुआ पानी पाकर यह फूला नहीं समाता। एक-एक पत्ता तुम्हें धन्यवाद दे रहा है।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा, मानो वह पौधा कोई नन्हा-सा क्रीड़ाशील बालक है। जैसे चुम्बन से प्रसन्न होकर बालक गोद में चढ़ने के लिए दोनों हाथ फैला देता है, उसी भाँति यह पौधा भी हाथ फैलाये जान पड़ा। उसके एक-एक अणु में चन्दा का प्रेम झलक रहा था।

चन्दा के घर में खेती के सभी औज़ार थे। कुँअर एक फावड़ा उठा लाये और पौधे का एक थाला बनाकर चारों ओर ऊँची मेंड़ उठा दी। फिर खुरपी लेकर अन्दर की मिट्टी को गोड़ दिया। पौधा और भी लहलहा उठा।

चन्दा बोली—कुछ सुनते हो, क्या कह रहा है?

कुँअर ने मुसकिराकर कहा—हाँ, कहता है—अम्माँ की गोद में बैठूँगा!

चन्दा—नहीं, कह रहा है, इतना प्रेम करके फिर भूल न जाना।

(३)

मगर कुँअर को अभी राजपुत्र होने का दण्ड भोगना बाक़ी था। शत्रुओं को न जाने कैसे उनकी टोह मिल गई। इधर तो हितचिन्तकों के आग्रह से विवश होकर बूढ़ा कुबेरसिंह चन्दा और कुंअर के विवाह की तैयारियाँ कर रहा था, उधर शत्रुओं का एक दल सिर पर आ पहुँचा। कुँअर ने उस पौधे के आस-पास फूल-पत्ते लगाकर एक फुलवाड़ी-सी बना दी थी। पौधे को सींचना अब उनका काम था। प्रातःकाल वह कंधे पर काँवर रखे नदी से पानी ला रहे थे, कि दस-बारह आदमियों ने उन्हें रास्ते में घेर लिया। कुबेरसिंह तलवार लेकर दौड़ा; लेकिन शत्रुओं ने उसे मार गिराया। अकेला, शस्त्र-हीन कुँअर क्या करता। कंधे पर काँवर रखे हुए बोला—अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो भाई? मैंने तो सब कुछ छोड़ दिया।

सरदार बोला—हमें आपको पकड़ ले जाने का हुक्म है।

'तुम्हारा स्वामी मुझे इस दशा में भी नहीं देख सकता। ख़ैर, अगर धर्म समझो, तो कुबेरसिंह की तलवार मुझे दे दो। अपनी स्वाधीनता के लिए लड़कर प्राण दूँ।'

इसका उत्तर यही मिला कि सिपाहियों ने कुँअर को पकड़कर मुश्कें कस दीं और उन्हें एक घोड़े पर बिठाकर घोड़े को भगा दिया। काँवर वहीं पड़ी रह गई।

उसी समय चन्दा घर से निकली। देखा—काँवर पड़ी हुई है और कुँअर को लोग घोड़े पर बिठाये लिये जा रहे हैं। चोट खाये हुए पक्षी की भाँति वह कई कदम दौड़ी, फिर गिर पड़ी। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया।

सहसा उसकी दृष्टि पिता की लाश पर पड़ी। वह घबड़ाकर उठी और लाश के पास जा पहुँची। कुबेर अभी मरा न था। प्राण आँखों में अटके हुए थे।

चन्दा को देखते ही क्षीणस्वर में बोला—बेटी...कुँअर ! इसके आगे वह कुछ न कह सका। प्राण निकल गये ; पर इस एक शब्द—'कुँअर'—ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

(४)

बीस वर्ष बीत गये ! कुँअर कैद से न छूट सके।

यह एक पहाड़ी किला था। जहाँ तक निगाह जाती, पहाड़ियाँ ही नजर आतीं। किले में उन्हें कोई कष्ट न था। नौकर-चाकर, भोजन-वस्त्र, सैर-शिकार, किसी बात की कमी न थी। पर, उस वियोगाग्नि को कौन शान्त करता, जो नित्य कुँअर के हृदय में जला करती थी। जीवन में अब उनके लिए कोई आशा न थी, कोई प्रकाश न था। अगर कोई इच्छा थी, तो यही कि एक बार उस प्रेम-तीर्थ की यात्रा कर लें, जहाँ उन्हें वह सब कुछ मिला, जो मनुष्य को मिल सकता है। हाँ, उनके मन में एक-मात्र यही अभिलाषा थी कि उस पवित्र स्मृतियों से रंजित भूमि के दर्शन करके जीवन का उसी नदी के तट पर अन्त कर दे। वही नदी का किनारा, वही वृक्षों का कुञ्ज, वही चन्दा का छोटा-सा सुन्दर घर, उसकी आँखों में फिरा करता, और वह पौधा जिसे उन दोनो ने मिलकर सींचा था, उसमें तो मानो उसके प्राण ही बसते थे। क्या वह दिन भी आयेगा, जब वह उस पौधे को हरी-हरी पत्तियों से लदा हुआ देखेगा ! कौन जाने वह अब है भी या सूख गया। कौन अब उसको सींचता होगा। चन्दा इतने दिनों अविवाहिता थोड़े ही बैठी होगी। ऐसा संभव भी तो नहीं। उसे अब मेरी सुधि भी न होगी। हाँ, शायद कभी अपने घर की याद खींच लाती हो, तो पौधे को देखकर उसे मेरी याद आ जाती हो। मुझ-जैसे अभागे के लिए इससे अधिक वह और कर ही क्या सकती है। उस भूमि को एक बार देखने के लिए वह अपना जीवन दे सकता था ; पर यह

अभिलाषा न पूरी होती थी।

आह! एक युग बीत गया, शोक और नैराश्य ने उठती जवानी को कुचल दिया। न आँखों में ज्योति रही न पैरों में शक्ति। जीवन क्या था, एक दुःखदायी स्वप्न था। उस सघन अन्धकार में उसे कुछ न सूझता था, बस जीवन का आधार एक अभिलाषा थी, एक सुखद स्वप्न, जो जीवन में न जाने कब उसने देखा था। एक बार फिर वही स्वप्न देखना चाहता था। फिर, उसकी अभिलाषाओं का अन्त हो जायगा, उसे कोई इच्छा न रहेगी। सारा अनन्त भविष्य, सारी अनन्त चिन्ताएँ, इसी एक स्वप्न में लीन हो जाती थीं।

उसके रक्षकों को अब उसकी ओर से कोई शंका न थी। उन्हें उस पर दया आती थी। रात को पहरे पर केवल कोई एक आदमी रह जाता था और लोग मीठी नींद सोते थे। कुँअर भाग जा सकता है, इसकी कोई सम्भावना, कोई शंका न थी। यहाँ तक कि एक दिन यह एक सिपाही भी निश्शंक होकर बन्दूक लिये लेट रहा। निद्रा किसी हिंसक पशु की भाँति ताक लगाये बैठी थी। लेटते ही टूट पड़ी। कुँअर ने सिपाही की नाक की आवाज सुनी। उनका हृदय बड़े वेग से उछलने लगा। यह अवसर आज कितने दिनों के बाद मिला था। वह उठे; मगर पाँव थर-थर काँप रहे थे। बरामदे के नीचे उतरने का साहस न हो सका। कहीं इसकी नींद खुल गई तो? हिंसा उनकी सहायता कर सकती थी। सिपाही की बगल में उसकी तलवार पड़ी थी; पर प्रेम को हिंसा से बैर है। कुँअर ने सिपाही को जगा दिया। वह चौंककर उठ बैठा। रहा-सहा संशय भी उसके दिल से निकल गया। दूसरी बार जो सोया, तो खर्राटे लेने लगा।

प्रातःकाल जब उसकी निद्रा टूटी, तो उसने लपककर कुँअर के कमरे में झाँका। कुँअर का पता न था।

कुँअर इस समय हवा के घोड़ों पर सवार, कल्पना की द्रुतगति से, भागा जा रहा था—उस स्थान को, जहाँ उसने सुख-स्वप्न देखा था।

किले में चारो ओर तलाश हुई, नायक ने सवार दौड़ाये; पर कहीं पता न चला।

(५)

पहाड़ी रास्तों का काटना कठिन, उस पर अज्ञातवास की कैद, मृत्यु के दूत पीछे लगे हुए, जिनसे बचना मुशकिल। कुँअर को कामना-तीर्थ में महीनों लग गये। जब यात्रा पूरी हुई, तो कुँअर में एक कामना के सिवा और कुछ शेष न था। दिन-भर की कठिन यात्रा के बाद जब वह उस स्थान पर पहुँचे, तो संध्या हो गई थी। वहाँ बस्ती का नाम भी न था। दो-चार टूटे-फूटे झोपड़े उस बस्ती के चिन्ह-स्वरूप शेष रह गये थे। वह झोपड़ा, जिसमें कभी प्रेम का प्रकाश था, जिसके नीचे उन्होंने जीवन के सुखमय दिन काटे थे, जो उनकी कामनाओं का आगार और उनकी उपासना का मन्दिर था, अब उनकी अभिलाषाओं की भाँति भग्न हो गया था। झोपड़े की भग्नावस्था मूक भाषा में अपनी करुण-कथा सुना रही थी। कुँअर उसे देखते ही 'चन्दा-चन्दा!' पुकारते हुए दौड़े। उन्होंने उस रज को माथे पर मला, मानो किसी देवता की विभूति हो, और उसकी टूटी हुई दीवारों से चिमटकर बड़ी देर तक रोते रहे। हाय रे अभिलाषा! वह रोने ही के लिए इतनी दूर से आये थे? रोने ही की अभिलाषा इतने दिनों से उन्हें विकल कर रही थी? पर इस रुदन में कितना स्वर्गीय आनन्द था। क्या समस्त संसार का सुख इन आँसुओं की तुलना कर सकता था?

तब वह झोपड़े से निकले! सामने मैदान में एक वृक्ष हरे-

हरे नवीन पल्लवों को गोद में लिये, मानो उनका स्वागत करने को खड़ा था। यह वही पौधा है, जिसे आज से बीस वर्ष पहले दोनो ने आरोपित किया था। कुँअर उन्मत्त की भाँति दौड़े और जाकर उस वृक्ष से लिपट गये, मानो कोई पिता अपने मातृहीन पुत्र को छाती से लगाये हुए हो। यह उसी प्रेम की निशानी है, उसी अक्षय प्रेम की, जो इतने दिनों के बाद आज इतना विशाल हो गया है। कुँअर का हृदय ऐसा फूल उठा मानो इस वृक्ष को अपने अन्दर रख लेगा, जिसमें उसे हवा का झोंका भी न लगे। उसके एक-एक पल्लव पर चन्दा की स्मृति बैठी हुई थी। पक्षियों का इतना रम्य संगीत क्या कभी उन्होंने सुना था! उनके हाथों में दम न था, सारी देह भूख-प्यास और थकन से शिथिल हो रही थी। पर, वह उस वृक्ष पर चढ़ गये, इतनी फुर्ती से चढ़े कि बन्दर भी न चढ़ता। सबसे ऊँची फुनगी पर बैठकर उन्होंने चारो ओर गर्व-पूर्ण दृष्टि डाली। यही उनकी कामनाओं का स्वर्ग था। सारा दृश्य चन्द्रामय हो रहा था। दूर की नीली पर्वत-श्रेणियों पर चन्दा बैठी गा रही थी। आकाश में तैरनेवाली लालिमामयी नौकाओं पर चन्दा ही उड़ी जाती थी। सूर्य की श्वेत-पीत प्रकाश की रेखाओं पर चन्दा ही बैठी हँस रही थी। कुँअर के मन में आया, पक्षी होता तो इन्हीं डालियों पर बैठा हुआ जीवन के दिन पूरे करता।

जब अँधेरा हो गया, तो कुँअर नीचे उतरे और उसी वृक्ष के नीचे थोड़ी-सी भूमि झाड़कर पत्तियों की शय्या बनाई और लेटे। यही उनके जीवन का स्वर्ण-स्वप्न था, आह यही वैराग्य! अब वह इस वृक्ष की शरण छोड़कर कहीं न जायँगे। दिल्ली के तख्त के लिए भी वह इस आश्रम को न छोड़ेंगे।

(६)

उसी स्निग्ध, अमल चाँदनी में सहसा एक पक्षी आकर उस

वृक्ष पर बैठा और दर्द में डूबे हुए स्वरों में गाने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह वृक्ष सिर धुन रहा है! वह नीरव रात्रि उस वेदनामय संगीत से हिल उठी, कुँअर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा, मानो वह फट जायगा। उस स्वर में करुणा और वियोग के तीर-से भरे हुए थे। आह! पक्षी, तेरा जोड़ा भी अवश्य बिछुड़ गया है, नहीं तेरे राग में इतनी व्यथा, इतना विषाद, इतना रुदन कहाँ से आता! कुँअर के हृदय के टुकड़े हुए जाते थे, एक-एक स्वर तीर की भाँति दिल को छेदे डालता था। वहाँ बैठे न रह सके। उठकर एक आत्म-विस्मृत की दशा में दौड़े हुए झोपड़े में गये, वहाँ से फिर वृक्ष के नीचे आये। उस पक्षी को कैसे पायें। कहीं दिखाई नहीं देता।

पक्षी का गाना बन्द हुआ, तो कुँअर को नींद आ गई। उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँअर ने ध्यान से देखा, तो वह पक्षी न था, चन्दा थी, हाँ प्रत्यक्ष चंदा थी।

कुँअर ने पूछा—चंदा, यह पक्षी यहाँ कहाँ?

चंदा ने कहा—मैं ही तो वह पक्षी हूँ।

कुँअर—तुम पक्षी हो! क्या तुम्हीं गा रही थीं?

चंदा—हाँ प्रियतम, मैं ही गा रही थी। इसी तरह रोते-रोते एक युग बीत गया।

कुँअर—तुम्हारा घोंसला कहाँ है?

चंदा—उसी झोपड़े में, जहाँ तुम्हारी खाट थी। उसी खाट के बान से मैंने अपना घोंसला बनाया है।

कुँअर—और तुम्हारा जोड़ा कहाँ है?

चंदा—मैं अकेली हूँ। चन्दा को अपने प्रियतम के स्मरण करने में, उसके लिए रोने में, जो सुख है, वह जोड़े में नहीं; मैं इसी तरह अकेली रहूँगी और अकेली मरूँगी।

कुँवर—मैं क्या पक्षी नहीं हो सकता ?

चंदा चली गई। कुँअर को नींद खुल गई। ऊषा की लालिमा आकाश पर छाई हुई थी और वह चिड़िया, कुँअर की शय्या के समीप एक डाल पर बैठी चहक रही थी। अब उस संगीत में करुणा न थी, विलाप न था, उसमें आनन्द था, चापल्य था, सारल्य था, वह वियोग का करुण-क्रन्दन नहीं, मिलन का मधुर संगीत था।

कुँअर सोचने लगे—इस स्वप्न का क्या रहस्य है ?

(७)

कुँअर ने शय्या से उठते ही एक झाड़ू बनाई और झोपड़े को साफ करने लगे। उनके जीते जी इसकी यह भग्न दशा नहीं रह सकती। वह इसकी दीवारें उठायेंगे, इस पर छप्पर डालेंगे, इसे लीपेंगे। इसमें उनकी चंदा की स्मृति वास करती है। झोपड़े के एक कोने में वह काँवर रखी हुई थी, जिस पर पानी ला-लाकर वह इस वृक्ष को सींचते थे। उन्होंने काँवर उठा ली और पानी लाने चले। दो दिन से कुछ भोजन न किया था। रात को भूख लगी हुई थी; पर इस समय भोजन की बिलकुल इच्छा न थी। देह में एक अद्भुत स्फूर्ति का अनुभव होता था। उन्होंने नदी से पानी ला-लाकर मिट्टी भिगोना शुरू किया। दौड़े जाते थे और दौड़े आते थे। इतनी शक्ति उनमें कभी न थी।

एक ही दिन में इतनी दीवार उठ गई, जितनी चार मजदूर भी न उठा सकते थे। और कितनी सीधी, चिकनी दीवार थी कि कारीगर भी देखकर लज्जित हो जाता। प्रेम की शक्ति अपार है।

संध्या हो गई। चिड़ियों ने बसेरा लिया। वृक्षों ने भी आँखें बन्द कीं; मगर कुँअर को आराम कहाँ। तारों के मलिन प्रकाश में मिट्टी के रद्दे रखे जा रहे थे। हाय रे कामना! क्या तू इस बेचारे के प्राण ही लेकर छोड़ेगी ?

वृक्ष पर पक्षी का मधुर स्वर सुनाई दिया। कुँअर के हाथ से घड़ा छूट पड़ा। हाथ और पैरों में मिट्टी लपेट वह वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। उस स्वर में कितना लालित्य था, कितना उल्लास, कितनी ज्योति! मानव-संगीत इसके सामने बेसुरा अलाप था। उसमें यह जागृति, यह अमृत, यह जीवन कहाँ। संगीत के आनन्द में विस्मृति है; पर वह विस्मृति कितनी स्मृतिमय होती है, अतीत को जीवन और प्रकाश से रञ्जित करके प्रत्यक्ष कर देने की शक्ति, संगीत के सिवा और कहाँ है? कुँअर के हृदय-नेत्रों के सामने वह दृश्य खड़ा हुआ, जब चन्दा इसी पौधे को नदी से जल ला लाकर सींचती थी। हाय, क्या वे दिन फिर आ सकते हैं!

सहसा एक बटोही आकर खड़ा हो गया और कुँअर को देखकर वह प्रश्न करने लगा, जो साधारणतः दो अपरिचित प्राणियों में हुआ करते हैं—कौन हो, कहाँ से आते हो, कहाँ जाओगे? पहले वह भी इसी गाँव में रहता था; पर जब गाँव उजड़ गया, तो समीप के एक दूसरे गाँव में जा बसा था। अब भी उसके खेत यहाँ थे। रात को जंगली पशुओं से अपने खेतों की रक्षा करने के लिए वह यहीं आकर सोता था।

कुँअर ने पूछा—तुम्हें मालूम है, इस गाँव में एक कुबेर-सिंह ठाकुर रहते थे?

किसान ने बड़ी उत्सुकता से कहा—हाँ-हाँ भाई, जानता क्यों नहीं! बेचारे यहीं तो मारे गये। तुमसे भी क्या जान-पहचान थी?

कुँअर—हाँ, उन दिनों कभी-कभी आया करता था। मैं भी राजा की सेवा में नौकर था। उनके घर में और कोई न था?

किसान—अरे भाई, कुछ न पूछो, बड़ी करुण कथा है। उनकी स्त्री तो पहले ही मर चुकी थी। केवल लड़की बच रही

थी। आह ! कैसी सुशीला, कैसी सुघड़ वह लड़की थी ! उसे देखकर आँखों में ज्योति आ जाती थी। बिलकुल स्वर्ग की देवी जान पड़ती थी। जब कुबेरसिंह जीता था, तभी कुँअर इन्द्रनाथ यहाँ भागकर आये थे और उसके यहाँ रहे थे, उस लड़की की कुँअर से कहीं बातचीत हो गई। जब कुँअर को शत्रुओं ने पकड़ लिया, तो चन्दा घर में अकेली रह गई। गाँववालों ने बहुत चाहा कि उसका विवाह हो जाय। उसके लिए वरों का तोड़ा न था भई। ऐसा कौन था, जो उसे पाकर अपने को धन्य न मानता; पर वह किसी से विवाह करने पर राज़ी न हुई। यह पेड़ जो तुम देख रहे हो, तब छोटा-सा पौधा था। इसके आस-पास फूलों की कई और क्यारियाँ थीं। इन्हीं को गोड़ने, निराने, सींचने में उसका दिन कटता था, बस यही कहती थी कि हमारे कुँअर साहब आते होंगे।

कुँअर की आँखों से आँसू की वर्षा होने लगी। मुसाफिर ने ज़रा दम लेकर कहा—दिन-दिन घुलती जाती थी। तुम्हें विश्वास न आयेगा भाई, उसने दस साल इसी तरह काट दिये। इतनी दुर्बल हो गई थी कि पहचानी न जाती थी; पर अब भी उसे कुँअर साहब के आने की आशा बनी हुई थी। आख़िर एक दिन इसी वृक्ष के नीचे उसकी लाश मिली। ऐसा प्रेम कौन करेगा भाई ! कुँअर न जाने मरे कि जिये, कभी उन्हें इस विरहिणी की याद भी आती है कि नहीं; पर इसने तो प्रेम को ऐसा निभाया जैसा चाहिये।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा, मानो हृदय फटा जा रहा है। वह कलेजा थामकर बैठ गये।

मुसाफिर के हाथ में एक सुलगता हुआ उपला था। उसने चिलम भरी और दो-चार दम लगाकर बोला—उसके मरने के बाद यह घर गिर गया। गाँव पहले ही उजाड़ था। अब तो

और भी सुनसान हो गया। दो-चार असामी यहाँ आ बैठते थे। अब तो चिड़िए का पूत भी यहाँ नहीं आता। उसके मरने के कई महीने के बाद यही चिड़िया इस पेड़ पर बोलती हुई सुनाई दी। तब से बराबर इसे यहाँ बोलते सुनता हूँ! रात को सभी चिड़ियाँ सो जाती हैं; पर यह रात भर बोलती रहती है। उसका जोड़ा कभी नहीं दिखाई दिया। बस, फुट्टैल है। दिन भर उसी झोपड़े में पड़ी रहती है। रात को इस पेड़ पर आ बैठती है; मगर इस समय इसके गाने में कुछ और ही बात है, नहीं तो सुनकर रोना आता है। ऐसा जान पड़ता है, मानो कोई कलेजे को मसोस रहा हो। मैं तो कभी-कभी पड़े-पड़े रो दिया करता हूँ। सब लोग कहते हैं कि यह वही चन्दा है। अब भी कुँअर के वियोग में विलाप कर रही है। मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है। आज न जाने क्यों मगन है।

किसान तम्बाकू पीकर सो गया। कुँअर कुछ देर तक खोये हुए-से खड़े रहे। फिर धीरे से बोले—चन्दा, क्या सचमुच तुम्हीं हो? मेरे पास क्यों नहीं आतीं?

एक क्षण में चिड़िया आकर उनके हाथ पर बैठ गई। चन्द्रमा के प्रकाश में कुँअर ने चिड़िया को देखा! ऐसा जान पड़ा, मानो उनकी आँखें खुल गई हों, मानो आँखों के सामने से कोई आवरण हट गया हो। पक्षी के रूप में भी चन्दा की मुखाकृति अङ्कित थी।

दूसरे दिन किसान सोकर उठा, तो कुँअर की लाश पड़ी हुई थी।

(८)

कुँअर अब नहीं हैं; किन्तु उनके झोपड़े की दीवारें बन गई हैं, ऊपर फूस का नया छप्पर पड़ गया है और झोपड़े के द्वार पर फूलों की कई क्यारियाँ लगी हुई हैं। गाँव के किसान इससे

अधिक और क्या कर सकते थे।

उस झोपड़े में अब पक्षियों के एक जोड़े ने अपना घोंसला बनाया है। दोनो साथ-साथ दाने-चारे की खोज में जाते हैं, साथ-साथ आते हैं, रात को दोनो उसी वृक्ष की डाल पर बैठे दिखाई देते हैं। उनका सुरम्य संगीत रात की नीरवता में दूर तक सुनाई देता है। वन के जीव-जंतु वह स्वर्गीय गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं।

यह पक्षियों का जोड़ा कुँअर और चन्दा का जोड़ा है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है।

एक बार एक व्याध ने इन पक्षियों को फँसाना चाहा; पर गाँव ने उसे मारकर भगा दिया।

सती

दो शताब्दियों से अधिक बीत गये हैं; पर चिन्तादेवी का नाम चला जाता है। बुन्देलखण्ड के एक बीहड़ स्थान में आज भी मंगलवार को सहस्रों स्त्री-पुरुष चिन्तादेवी की पूजा करने आते हैं। उस दिन यह निर्जन स्थान सोहाने गीतों से गूँज उठता है, टीले और टीकरे रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुशोभित हो जाते हैं। देवी का मन्दिर एक बहुत ऊँचे टीले पर बना हुआ है। उसके कलश पर लहराती हुई लाल पताका बहुत दूर से दिखाई देती है। मन्दिर इतना छोटा है कि उसमें मुश्किल से एक साथ दो आदमी समा सकते हैं। भीतर कोई प्रतिमा नहीं है, केवल एक छोटी-सी वेदी बनी हुई है। नीचे से मन्दिर तक पत्थर का ज़ीना है। भीड़-भाड़ में धक्का खाकर कोई नीचे न गिर पड़े, इसलिए ज़ीने के दोनो तरफ़ दीवार बनी हुई है। यहीं चिन्तादेवी सती हुई थीं; पर लोकरीति के अनुसार वह अपने मृत-पति के साथ चिता पर नहीं बैठी थीं। उनका पति हाथ जोड़े सामने खड़ा था; पर वह उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखती थीं। वह पति के शरीर के साथ नहीं, उसकी आत्मा के साथ सती हुईं। उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी।

(२)

यमुना-तट पर कालपी एक छोटा-सा नगर है। चिन्ता उसी नगर के एक वीर बुन्देले की कन्या थी। उसकी माता उसकी बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार चुकी थीं। उसके पालन-पोषण का भार पिता पर पड़ा। वह संग्राम का समय था, योद्धाओं को कमर खोलने की भी फ़ुरसत न मिलती थी, वे घोड़े की पीठ पर भोजन करते और ज़ीने ही पर झपकियाँ ले लेते थे। चिन्ता का बाल्यकाल पिता के साथ समर-भूमि में कटा। बाप उसे किसी खोह में या वृक्ष की आड़ में छिपाकर मैदान में चला जाता। चिन्ता निश्शंक भाव से बैठी हुई मिट्टी के क़िले बनाती और बिगाड़ती। उसके घरौंदे क़िले होते थे; उसकी गुड़ियाँ ओढ़नी न ओढ़ती थी। वह सिपाहियों के गुड्डे बनाती और उन्हें रण-क्षेत्र में खड़ा करती थी। कभी-कभी उसका पिता संध्या समय भी न लौटता; पर चिन्ता को भय छू तक न गया था। निर्जन स्थान में भूखी-प्यासी रात-रात भर बैठी रह जाती। उसने नेवले और सियार की कहानियाँ कभी न सुनी थीं। वीरों के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ, और वह भी योद्धाओं के मुँह से, सुन-सुनकर वह आदर्शवादिनी बन गई थी।

एक बार तीन दिन तक चिन्ता को अपने पिता की ख़बर न मिली। वह एक पहाड़ की खोह में बैठी मन-ही-मन एक ऐसा क़िला बना रही थी, जिसे शत्रु किसी भाँति जान न सके। दिन-भर वह उसी क़िले का नक़्शा सोचती और रात को उसी क़िले का स्वप्न देखती। तीसरे दिन सन्ध्या समय उसके पिता के कई साथियों ने आकर उसके सामने रोना शुरू किया। चिन्ता ने विस्मित होकर पूछा—दादाजी कहाँ हैं? तुम लोग क्यों रोते हो?

किसी ने इसका उत्तर न किया। वे ज़ोर से धाड़ें मार-मार-

कर रोने लगे। चिन्ता समझ गई कि उसके पिता ने वीर-गति पाई। उस तेरह वर्ष की बालिका की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, मुख ज़रा भी मलिन न हुआ, एक आह भी न निकली। हँसकर बोली—अगर उन्होंने वीर-गति पाई, तो तुम लोग रोते क्यों हो? योद्धाओं के लिए इससे बढ़कर और कौन मृत्यु हो सकती है, इससे बढ़कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है? यह रोने का नहीं, आनन्द मनाने का अवसर है।

एक सिपाही ने चिन्तित स्वर में कहा—हमें तुम्हारी चिन्ता है। तुम अब कहाँ रहोगी?

चिन्ता ने गंभीरता से कहा—इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो दादा। मैं अपने बाप की बेटी हूँ। जो कुछ उन्होंने किया, वही मैं भी करूँगी। अपनी मातृ-भूमि को शत्रुओं के पंजे से छुड़ाने में उन्होंने प्राण दे दिये। मेरे सामने भी वही आदर्श है। जाकर अपने आदमियों को सँभालिये। मेरे लिए एक घोड़े और हथियारों का प्रबन्ध कर दीजिये। ईश्वर ने चाहा, तो आप लोग मुझे किसी से पीछे न पाएँगे; लेकिन यदि मुझे पीछे हटते देखना, तो तलवार के एक हाथ से इस जीवन का अन्त कर देना। यही मेरी आपसे विनय है। जाइये, अब विलम्ब न कीजिए।

सिपाहियों को चिन्ता के ये वीर-वचन सुनकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, उन्हें यह संदेह अवश्य हुआ कि क्या यह कोमल बालिका अपने संकल्प पर दृढ़ रह सकेगी?

(३)

पाँच वर्ष बीत गये। समस्त प्रान्त में चिन्तादेवी की धाक बैठ गई। शत्रुओं के क़दम उखड़ गये। वह विजय की सजीव मूर्ति थी, उसे तीरों और गोलियों के सामने निश्शंक खड़े देख-

कर सिपाहियों को उत्तेजना मिलती रहती थी। उसके सामने वे कैसे क़दम पीछे हटाते ? जब कोमलांगी युवती आगे बढ़े, तो कौन पुरुष क़दम पीछे हटायेगा ? सुन्दरियों के सम्मुख योद्धाओं की वीरता अजेय हो जाती है। रमणी के वचन-बाण योद्धाओं के लिए आत्म-समर्पण के गुप्त संदेश हैं, उसकी एक चितवन कायरों में भी पुरुषत्व प्रवाहित कर देती है। चिन्ता की छवि-कीर्त्ति ने मनचले सूरमाओं को चारो ओर से खींच-खींचकर उसकी सेना को सजा दिया—जान पर खेलनेवाले भौंरे चारो ओर से आ-आकर इस फूल पर मँडराने लगे।

इन्हीं योद्धाओं में रत्नसिंह नाम का युवक राजपूत भी था।

यों तो चिन्ता के सैनिकों में सभी तलवार के धनी थे; बात पर जान देनेवाले, उसके इशारे पर आग में कूदनेवाले, उसकी आज्ञा पाकर एक बार आकाश के तारे तोड़ लाने को भी चल पड़ते; किन्तु रत्नसिंह सबसे बढ़ा हुआ था। चिन्ता भी हृदय में उससे प्रेम करती थी। रत्नसिंह अन्य वीरों की भाँति अक्खड़, मुँहफट या घमण्डी न था। और लोग अपनी-अपनी कीर्ति को खूब बढ़ा-बढ़ाकर बयान करते। आत्म-प्रशंसा करते हुए उनकी ज़बान न रुकती थी! वे जो कुछ करते, चिन्ता को दिखाने के लिए। उनका ध्येय अपना कर्तव्य न था, चिन्ता थी। रत्नसिंह जो कुछ करता, शांत भाव से। अपनी प्रशंसा करना तो दूर रहा, वह चाहे कोई शेर ही क्यों न मार आये, उसकी चरचा तक न करता। उसकी विनयशीलता और नम्रता, संकोच की सीमा से भिड़ गई थी। औरों के प्रेम में विलास था; पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मीठी नींद सोते थे; पर रत्नसिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था। और सब अपने दिल में समझते थे कि चिन्ता मेरी होगी—केवल रत्नसिंह निराश था, और इसीलिए उसे किसी से न द्वेष था, न राग।

औरों को चिन्ता के सामने चहकते देखकर उसे उनकी वाक्-पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निराशांधकार और भी घना होता जाता था। कभी-कभी वह अपने बोदेपन पर झुँझला उठता—क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रखा, जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं? उसे कौन पूछेगा? उसकी मनोव्यथा को कौन जानता है? पर वह मन में झुँझलाकर रह जाता था। दिखावे की उसमें सामर्थ्य ही न थी।

आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। चिन्ता अपने ख़ीमे में विश्राम कर रही थी। सैनिकगण भी कड़ी मंज़िल मारने के बाद कुछ खा-पीकर ग़ाफ़िल पड़े हुए थे। आगे एक घना जंगल था। जंगल के उस पार शत्रुओं का एक दल डेरा डाले पड़ा था। चिन्ता उसके आने की खबर पाकर भागाभाग चली आ रही थी। उसने प्रातःकाल शत्रुओं पर धावा करने का निश्चय कर लिया था। उसे विश्वास था कि शत्रुओं को मेरे आने की ख़बर न होगी; किन्तु यह उसका भ्रम था। उसी की सेना का एक आदमी शत्रुओं से मिला हुआ था। यहाँ की ख़बरें वहाँ नित्य पहुँचती रहती थीं। उन्होंने चिन्ता से निश्चिन्त होने के लिए एक षड्यंत्र रच रखा था—उसकी गुप्त हत्या करने के लिए तीन साहसी सिपाहियों को नियुक्त कर दिया था। वे तीनो हिंस्र पशुओं की भाँति दबे-पाँव जंगल को पार करके आये और वृक्षों की आड़ में खड़े होकर सोचने लगे कि चिन्ता का ख़ीमा कौन-सा है। सारी सेना बेख़बर सो रही थी, इससे उन्हें अपने कार्य की सिद्धि में लेश-मात्र संदेह न था। वे वृक्षों की आड़ से निकले, और ज़मीन पर मगर की तरह रेंगते हुए चिन्ता के ख़ीमे की ओर चले।

सारी सेना बेख़बर सोती थी, पहरे के सिपाही थककर चूर

हो जाने के कारण निद्रा में मग्न हो गये थे। केवल एक प्राणी ख़ीमे के पीछे मारे ठण्ढ के सिकुड़ा हुआ बैठा था। यह रत्नसिंह था। आज उसने यह कोई नई बात न की थी। पड़ावों में उसकी रातें इसी भाँति चिन्ता के ख़ीमे के पीछे बैठे-बैठे कटती थीं। घातकों की आहट पाकर उसने तलवार निकाल ली, और चौंककर उठ खड़ा हुआ। देखा—तीन आदमी झुके हुए चले आ रहे हैं! अब क्या करे? अगर शोर मचाता है, तो सेना में खलबली पड़ जाय, और अँधेरे में लोग एक दूसरे पर वार करके आपस ही में कट मरें। इधर अकेले तीन जवानों से भिड़ने में प्राणों का भय। अधिक सोचने का मौक़ा न था। उसमें योद्धाओं की, अविलंब निश्चय कर लेने की शक्ति थी; तुरन्त तलवार खींच ली, और उन तीनो पर टूट पड़ा। कई मिनट तक तलवारें छपाछप चलती रहीं। फिर सन्नाटा हो गया। उधर वे तीनो आहत होकर गिर पड़े, इधर यह भी ज़ख्मों से चूर होकर अचेत हो गया।

प्रातःकाल चिन्ता उठी, तो चारो जवानों को भूमि पर पड़े पाया। उसका कलेजा धक् से हो गया। समीप जाकर देखा—तीनो आक्रमणकारियों के प्राण निकल चुके थे; पर रत्नसिंह की साँस चल रही थी। सारी घटना समझ में आ गई। नारीत्व ने वीरत्व पर विजय पाई। जिन आँखों से पिता की मृत्यु पर आँसू की एक बूँद भी न गिरी थी, उन्हीं आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने रत्नसिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और हृदयांगण में रचे हुए स्वयंवर में उसके गले में जयमाल डाल दी।

(४)

महीने भर न रत्नसिंह की आँखें खुलीं, और न चिन्ता की आँखें बन्द हुईं। चिन्ता उसके पास से एक क्षण के लिए भी

कहीं न जाती। न अपने इलाके की परवा थी, न शत्रुओं के बढ़ते चले आने की फिक्र। रत्नसिंह पर वह अपनी सारी विभूतियों को बलिदान कर चुकी थी। पूरा महीना बीत जाने के बाद रत्नसिंह की आँख खुली। देखा—चारपाई पर पड़ा हुआ है, और चिन्ता सामने पंखा लिये खड़ी है। क्षीण स्वर में बोला—चिन्ता, पंखा मुझे दे दो, तुम्हें कष्ट हो रहा है।

चिन्ता का हृदय इस समय स्वर्ग के अखण्ड, अपार सुख का अनुभव कर रहा था। एक महीना पहले जिस शीर्ण शरीर के सिरहाने बैठी हुई वह नैराश्य से रोया करती थी, उसे आज बोलते देखकर उसके आह्लाद का पारावार न था। उसने स्नेह-मधुर स्वर में कहा—प्राणनाथ, यदि यह कष्ट है, तो सुख क्या है, मैं नहीं जानती। 'प्राणनाथ'—इस सम्बोधन में विलक्षण मंत्र की-सी शक्ति थी! रत्नसिंह की आँखें चमक उठीं। जीर्ण-मुद्रा प्रदीप्त हो गई, नसों में एक नये जीवन का संचार हो उठा, और वह जीवन कितना स्फूर्तिमय था, उसमें कितना उत्साह, कितना माधुर्य, कितना उल्लास और कितनी करुणा थी! रत्नसिंह के अङ्ग-अङ्ग फड़कने लगे। उसे अपनी भुजाओं में अलौकिक पराक्रम का अनुभव होने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह सारे संसार को सर कर सकता है, उड़कर आकाश पर पहुँच सकता है, पर्वतों को चीर सकता है। एक क्षण के लिए उसे ऐसी तृप्ति हुई, मानो उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गई हैं, मानो वह अब किसी से कुछ नहीं चाहता; शायद शिव को सामने खड़े देखकर भी वह मुँह फेर लेगा, कोई वरदान न माँगेगा। उसे अब किसी ऋद्धि की, किसी पदार्थ की इच्छा न थी। उसे गर्व हो रहा था, मानो उससे अधिक सुखी, उससे अधिक भाग्यशाली पुरुष संसार में और कोई न होगा?

चिन्ता अभी अपना वाक्य पूरा न कर पाई थी। उसी प्रसंग

में बोली—हाँ, आपको मेरे कारण अलबत्ता दुस्सह यातना भोगनी पड़ी !

रत्नसिंह ने उठने की चेष्टा करके कहा—बिना तप के सिद्धि नहीं मिलती।

चिन्ता ने रत्नसिंह को कोमल हाथों से लिटाते हुए कहा—इस सिद्धि के लिए तुमने तपस्या नहीं की थी। झूठ क्यों बोलते हो ? तुम केवल एक अबला की रक्षा कर रहे थे। यदि मेरी जगह कोई दूसरी स्त्री होती, तो भी तुम इतने ही प्राण-पण से उसकी रक्षा करते। मुझे इसका विश्वास है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, मैंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण कर लिया था ; लेकिन तुम्हारे आत्मोत्सर्ग ने मेरे प्रण को तोड़ डाला। मेरा पालन योद्धाओं की गोद में हुआ है ; मेरा हृदय उसी पुरुषसिंह के चरणों पर अर्पण हो सकता है, जो प्राणों की बाज़ी खेल सकता हो। रसिकों के हास-विलास, गुण्डों के रूप-रंग और फेकैतों के दाव-घात का मेरी दृष्टि में रत्ती भर भी मूल्य नहीं। उनकी नट-विद्या को मैं केवल तमाशे की तरह देखती हूँ। तुम्हारे ही हृदय में मैंने सच्चा उत्सर्ग पाया, और तुम्हारी दासी हो गई—आज से नहीं, बहुत दिनों से।

(५)

प्रणय की पहली रात थी। चारो ओर सन्नाटा था। केवल दोनो प्रेमियों के हृदयों में अभिलाषाएँ लहरा रही थीं। चारो ओर अनुरागमयी चाँदनी छिटकी हुई थी, और उसकी हास्यमयी छटा में वर और वधू प्रेमालाप कर रहे थे।

सहसा ख़बर आई कि शत्रुओं की एक सेना क़िले की ओर बढ़ी चली आती है। चिन्ता चौंक पड़ी ; रत्नसिंह खड़ा हो गया, और खूँटी से लटकती हुई तलवार उतार ली।

चिन्ता ने उसकी ओर कातर-स्नेह की दृष्टि से देखकर कहा—

कुछ आदमियों को उधर भेज दो, तुम्हारे जाने की क्या ज़रूरत है ?

रत्नसिंह ने बन्दूक कन्धे पर रखते हुए कहा—मुझे भय है कि अबकी वे लोग बड़ी संख्या में आ रहे हैं।

चिन्ता—तो मैं भी चलूँगी।

'नहीं, मुझे आशा है, वे लोग ठहर न सकेंगे! मैं एक ही धावे में उनके क़दम उखाड़ दूँगा। यह ईश्वर की इच्छा है कि हमारी प्रणय-रात्रि विजय-रात्रि हो!

'न जाने क्यों मन कातर हो रहा है। जाने देने को जी नहीं चाहता!'

रत्नसिंह ने इस सरल, अनुरक्त आग्रह से विह्वल होकर चिन्ता को गले लगा लिया, और बोले—मैं सवेरे तक लौट आऊँगा प्रिये!

चिन्ता पति के गले में हाथ डालकर आँखों में आँसू भरे हुए बोली—मुझे भय है, तुम बहुत दिनों में लौटोगे। मेरा मन तुम्हारे साथ रहेगा। जाओ, पर रोज़ ख़बर भेजते रहना। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अवसर का विचार करके धावा करना। तुम्हारी आदत है कि शत्रु देखते ही आकुल हो जाते हो, और जान पर खेलकर टूट पड़ते हो। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि अवसर देखकर काम करना। जाओ, जिस तरह पीठ दिखाते हो, उसी तरह मुँह दिखाओ।

चिन्ता का हृदय कातर हो रहा था। वहाँ पहले केवल विजय-लालसा का आधिपत्य था, अब भोग-लालसा की प्रधानता थी। वही वीर-बाला, जो सिंहिनी की तरह गरजकर शत्रुओं के कलेजे कँपा देती थी, आज इतनी दुर्बल हो रही थी कि जब रत्नसिंह घोड़े पर सवार हुआ, तो आप उसकी कुशल-कामना से मन ही मन देवी की मनौतियाँ कर रही थी। जब तक वह वृक्षों

की ओट में छिप न गया, वह खड़ी उसे देखती रही, फिर वह क़िले के सबसे ऊँचे बुर्ज पर चढ़ गई, और घंटों उसी तरफ़ ताकती रही। वहाँ शून्य था, पहाड़ियों ने कभी का रत्नसिंह को अपनी ओट में छिपा लिया था; पर चिन्ता को ऐसा जान पड़ता था कि वह सामने चले जा रहे हैं। जब ऊषा की लोहित छवि वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह-विस्मृति टूट गई। मालूम हुआ, चारो ओर शून्य है। वह रोती हुई बुर्ज से उतरी, और शय्या पर मुँह ढाँपकर रोने लगी।

(६)

रत्नसिंह के साथ मुशकिल से सौ आदमी थे; किन्तु सभी मँजे हुए, अवसर और संख्या को तुच्छ समझनेवाले, अपनी जान के दुश्मन। वे वीरोल्लास से भरे हुए एक वीर-रस-पूर्ण पद गाते हुए घोड़ों को बढ़ाये चले जाते थे—

'बाँकी तेरी पाग सिपाही, इसकी रखना लाज।
तेग़-तबर कुछ काम न आवे, बख़तर-ढाल व्यर्थ हो जावे।
रखियो मन में लाग, सिपाही बाँकी तेरी पाग।
इसकी रखना लाज।'

पहाड़ियाँ इन वीर-स्वरों से गूँज रहीं थीं। घोड़ों की टाप ताल दे रही थी। यहाँ तक कि रात बीत गई, सूर्य ने अपनी लाल आँखें खोल दीं और इन वीरों पर अपनी स्वर्णच्छटा की वर्षा करने लगा।

वहीं रक्तमय प्रकाश में शत्रुओं की सेना एक पहाड़ी पर पड़ाव डाले हुए नज़र आई।

रत्नसिंह सिर झुकाये, वियोग-व्यथित हृदय को दबाये, मंद गति से पीछे-पीछे चला आता था। क़दम आगे बढ़ता था; पर मन पीछे हटता था। आज जीवन में पहली बार दुश्चिन्ताओं ने उसे आशंकित कर रखा था। कौन जानता है, लड़ाई का अंत

होगा ! जिस स्वर्ग-सुख को छोड़कर वह आया था, उसकी स्मृतियाँ रह-रहकर उसके हृदय को मसोस रही थीं। चिन्ता की सजल आँखें याद आती थीं, और जी चाहता था, घोड़े की रास पीछे मोड़ दें। प्रतिक्षण रणोत्साह क्षीण होता जाता था, सहसा एक सरदार ने समीप आकर कहा—भैया, वह देखो ऊँची पहाड़ी पर शत्रु डेरे डाले पड़ा है। तुम्हारी अब क्या राय है ? हमारी तो यह इच्छा है कि तुरन्त उन पर धावा कर दें। ग़ाफ़िल पड़े हुए हैं, भाग खड़े होंगे। देर करने से वे भी सँभल जायँगे, और तब मामला नाजुक हो जायगा। एक हज़ार से कम न होंगे।

रत्नसिंह ने चिन्तित नेत्रों से शत्रु-दल की ओर देखकर कहा—हाँ, मालूम तो होता है।

सिपाही—तो धावा कर दिया जाय न ?

रत्न०—जैसी तुम्हारी इच्छा। संख्या अधिक है, यह सोच लो।

सिपाही—इसकी परवाह नहीं। हम इससे बड़ी सेनाओं को परास्त कर चुके हैं।

रत्न०—यह सच है ; पर आग में कूदना ठीक नहीं।

सिपाही—भैया, तुम कहते क्या हो ? सिपाही का तो जीवन ही आग में कूदने के लिए है। तुम्हारे हुक्म की देर है, फिर हमारा जीवट देखना।

रत्न०—अभी हम लोग बहुत थके हुए हैं। ज़रा विश्राम कर लेना अच्छा है।

सिपाही—नहीं भैया, उन सबों को हमारी आहट मिल गई, तो ग़ज़ब हो जायगा।

रत्न०—तो फिर धावा ही कर दो।

एक क्षण में योद्धाओं ने घोड़ों की बागें उठा दीं, और सँभाले हुए शत्रु-सेना पर लपके ; किन्तु पहाड़ी पर पहुँचते ही

इन लोगों ने उनके विषय में जो अनुमान किया था, वह मिथ्या था। वह सजग ही नहीं थे, स्वयं क़िले पर धावा करने की तैयारियाँ कर रहे थे। इन लोगों ने जब उन्हें सामने आते देखा, तो समझ गये—भूल हुई ; लेकिन अब सामना करने के सिवा चारा ही क्या था। फिर भी वे निराश न थे। रत्नसिंह-जैसे कुशल योद्धा के साथ इन्हें कोई शंका न थी। वह इससे भी कठिन अवसरों पर अपने रण-कौशल से विजय-लाभ कर चुका था। क्या आज वह अपना जौहर न दिखायेगा ? सारी आँखें रत्नसिंह को खोज रही थीं ; पर उसका वहाँ कहीं पता न था। कहाँ चला गया ? यह कोई न जानता था।

पर वह कहीं नहीं जा सकता—अपने साथियों को इस कठिन अवस्था में छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकता। सम्भव नहीं, अवश्य ही वह यहीं है, और हारी हुई बाजी को जीतने की कोई युक्ति सोच रहा है।

एक क्षण में शत्रु इनके सामने आ पहुँचे। इतनी बहुसंख्यक सेना के सामने ये मुट्ठी-भर आदमी क्या कर सकते थे। चारो ओर से रत्नसिंह की पुकार होने लगी—भैया, तुम कहाँ हो ? हमें क्या हुक्म देते हो ? देखते हो, वे लोग सामने आ पहुँचे ; पर तुम अभी तक मौन खड़े हो। सामने आकर हमें मार्ग दिखाओ, हमारा उत्साह बढ़ाओ !

पर अब भी रत्नसिंह न दिखाई दिया। यहाँ तक कि शत्रु-दल सिर पर आ पहुँचा, और दोनो दलों में तलवारें चलने लगीं। बुन्देलों ने प्राण हथेली पर लेकर लड़ना शुरू किया ; पर एक को एक बहुत होता है ; एक और दस का मुक़ाबला ही क्या ? यह लड़ाई न थी, प्राणों का जुआ था। बुन्देलों में निराशा का अलौकिक बल था। खूब लड़े ; पर क्या मजाल कि क़दम पीछे हटे। उनमें अब ज़रा भी संगठन न था। जिससे जितना आगे

चबूतरे पर जा बैठा। मंदिर बहुत बड़ा था, ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था। जगमोहन पर संगमरमर के चौके जड़े हुए थे; मगर आँगन में जगह-जगह गोबर और कूड़ा पड़ा था। जामिद को गंदगी से चिढ़ थी; देवालय की यह दशा देखकर उससे न रहा गया; इधर-उधर निगाह दौड़ाई कि कहीं झाड़ू मिल जाय, तो साफ़ कर दूँ; पर झाड़ू कहीं नज़र न आई। विवश होकर उसने अपने दामन से चबूतरे को साफ करना शुरू कर दिया।

ज़रा देर में भक्तों का जमाव होने लगा। उन्होंने जामिद को चबूतरा साफ करते देखा, तो आपस में बातें करने लगे—

'है तो मुसलमान!'

'मेहतर होगा।'

'नहीं, मेहतर अपने दामन से सफ़ाई नहीं करता। कोई पागल मालूम होता है।'

'उधर का भेदिया न हो?'

'नहीं, चेहरे से तो बड़ा ग़रीब मालूम होता है।'

'हसन निज़ामी का कोई मुरीद होगा।'

'अजी, गोबर के लालच से सफ़ाई कर रहा है। कोई भठियारा होगा। (ज़ामिद से) गोबर न ले जाना बे, समझा कहाँ रहता है?'

'परदेसी मुसाफिर हूँ, साहब; मुझे गोबर लेकर क्या करना है। ठाकुरजी का मन्दिर देखा, तो आकर बैठ गया। कूड़ा पड़ा हुआ था। मैंने सोचा—धर्मात्मा लोग आते होंगे; सफाई करने लगा।'

'तुम तो मुसलमान हो न?'

'ठाकुरजी तो सबके ठाकुरजी हैं—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान!'

'तुम ठाकुरजी को मानते हो ?'

'ठाकुरजी को कौन न मानेगा, साहब ? जिसने पैदा किया उसे न मानूँगा, तो किसे मानूँगा।'

भक्तों में सलाह होने लगी—

'देहाती है।'

'फाँस लेना चाहिये, जाने न पावे !'

(३)

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर-सत्कार होने लगा। एक हवादार मकान रहने को मिला। दोनो वक्त उत्तम पदार्थ खाने को मिलने लगे। दो चार आदमी हरदम उसे घेरे रहते। जामिद को भजन खूब याद थे। गला भी अच्छा था। वह रोज मन्दिर में जाकर कीर्तन करता। भक्ति के साथ स्वर-लालित्य भी हो, तो फिर क्या पूछना ? लोगों पर उसके कीर्त्तन का बड़ा असर पड़ता। कितने ही लोग संगीत के लोभ से ही मन्दिर में आने लगे। सबको विश्वास हो गया कि भगवान् ने यह शिकार चुनकर भेजा है।

एक दिन मन्दिर में बहुत-से आदमी जमा हुए। आँगन में फर्श बिछाया गया। जामिद का सिर मुड़ा दिया गया। नये कपड़े पहनाये गये। हवन हुआ। जामिद के हाथों से मिठाई बँटवाई गई। वह अपने आश्रय-दाताओं की उदारता और धर्मनिष्ठा का और भी कायल हो गया। ये लोग कितने सज्जन हैं, मुझ-जैसे फटेहाल परदेसी की इतनी ख़ातिर। इसी को सच्चा धर्म कहते हैं। जामिद को जीवन में कभी इतना सम्मान न मिला था। यहाँ वही सैलानी युवक, जिसे लोग बौड़म कहते थे, भक्तों का सिरमौर बना हुआ था। सैकड़ों ही आदमी केवल इसके दर्शनों को आते थे। उसकी प्रकांड विद्वत्ता की कितनी ही कथाएँ प्रचलित हो गईं। पत्रों में यह समाचार निकला कि

एक बड़े आलिम मौलवी साहब की शुद्धि हुई है। सीधा-सादा जामिद इस सम्मान का रहस्य कुछ न समझता था। ऐसे धर्म-परायण सहृदय प्राणियों के लिए वह क्या कुछ न करता? वह नित्य पूजा करता, भजन गाता। उसके लिए यह कोई नई बात न थी। अपने गाँव में भी वह बराबर सत्यनारायण की कथा में बैठा करता था। भजन-कीर्तन किया करता था। अन्तर यही था कि देहात में उसकी क़दर न थी। यहाँ सब उसके भक्त थे।

एक दिन जामिद कई भक्तों के साथ बैठा हुआ कोई पुराण पढ़ रहा था, तो क्या देखता है कि सामने सड़क पर एक बलिष्ठ युवक माथे पर तिलक लगाये, जनेऊ पहने, एक बूढ़े दुर्बल मनुष्य को मार रहा है। बुड्ढा रोता है, गिड़गिड़ाता है, और पैरों पड़-पड़के कहता है कि महाराज, मेरा कुसूर माफ़ करो; किन्तु तिलकधारी युवक को उस पर ज़रा भी दया नहीं आती। जामिद का रक्त खौल उठा। ऐसे दृश्य देखकर वह शांत न बैठ सकता था। तुरन्त कूदकर बाहर निकला, और युवक के सामने आकर बोला—इस बुड्ढे को क्यों मारते हो भाई? तुम्हें इस पर ज़रा भी दया नहीं आती?

युवक—मैं मारते-मारते इसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा।

जामिद—आख़िर इसने क्या कुसूर किया है? कुछ मालूम तो हो।

युवक—इसकी मुर्ग़ी हमारे घर में घुस गई थी, और सारा घर गन्दा कर आई?

जामिद—तो क्या इसने मुर्ग़ी को सिखा दिया था कि तुम्हारा घर गन्दा कर आये?

बुड्ढा—ख़ुदावंद, मैं तो उसे बराबर खाँचे में ढाँके रहता हूँ। आज ग़फ़लत हो गई। कहता हूँ, महाराज, कुसूर माफ़ करो;

मगर नहीं मानते। हुज़ूर, मारते-मारते अधमरा कर दिया।

युवक—अभी नहीं मारा है, अब मारूँगा—खोदकर गाड़ दूँगा।

जामिद—खोदकर गाड़ दोगे भाई साहब, तो तुम भी यों न खड़े रहोगे। समझ गये? अगर फिर हाथ उठाया, तो अच्छा न होगा।

जवान को अपनी ताक़त का नशा था। उसने फिर बुड्ढे को चाँटा लगाया; पर चाँटा पड़ने के पहले ही जामिद ने उसकी गर्दन पकड़ ली। दोनो में मल्लयुद्ध होने लगा। जामिद करारा जवान था। युवक को पटकनी दी, तो चारो खाने चित्त गिर गया। उसका गिरना था कि भक्तों का समुदाय, जो अब तक मन्दिर में बैठा तमाशा देख रहा था, लपक पड़ा और जामिद पर चारो तरफ़ से चोटें पड़ने लगीं! जामिद की समझ में न आता था कि लोग मुझे क्यों मार रहे हैं। कोई कुछ नहीं पूछता। तिलकधारी जवान को कोई कुछ नहीं कहता। बस, जो आता है, मुझी पर हाथ साफ़ करता है। आख़िर वह बेदम होकर गिर पड़ा। तब लोगों में बातें होने लगीं।

'दग़ा दे गया!'

'धत् तेरी ज़ात की! कभी म्लेच्छों से भलाई की आशा न रखनी चाहिये। कौआ कौओं ही के साथ मिलेगा। कमीना जब करेगा, कमीनापन। इसे कोई पूछता न था, मन्दिर में झाड़ू लगा रहा था। देह पर कपड़े का तार भी न था, हमने इसका सम्मान किया, पशु से आदमी बना दिया, फिर भी अपना न हुआ!'

'इनके धर्म का तो मूल ही यही है!'

जामिद रात भर सड़क के किनारे पड़ा दर्द से कराहता रहा, उसे मार खाने का दुःख न था। ऐसी यातनायें वह कितनी

बढ़ते बना, बढ़ा। अन्त क्या होगा, इसकी किसी को चिन्ता न थी। कोई तो शत्रुओं की सफें चीरता हुआ सेनापति के समीप पहुँच गया, कोई उसके हाथी पर चढ़ने की चेष्टा करते मारा गया। उनका अमानुषिक साहस देखकर शत्रुओं के मुँह से भी वाह वाह निकलती थी; लेकिन ऐसे योद्धाओं ने नाम पाया है, विजय नहीं पाई। एक घण्टे में रंगमंच का परदा गिर गया, तमाशा ख़तम हो गया। एक आँधी थी, जो आई और वृक्षों को उखाड़ती हुई चली गई। संगठित रहकर ये ही मुट्ठी-भर आदमी दुश्मनों के दाँत खट्टे कर देते, पर जिस पर संगठन का भार था, उसका कहीं पता न था। विजयी मरहठों ने एक-एक लाश ध्यान से देखी। रत्नसिंह उनकी आँखों में खटकता था। उसी पर उनके दाँत लगे थे। रत्नसिंह के जीते जी उन्हें नींद न आती थी। लोगों ने पहाड़ी की एक-एक चट्टान का मंथन कर डाला; पर रत्न न हाथ आया। विजय हुई; पर अधूरी।

(७)

चिन्ता के हृदय में आज न जाने क्यों भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही थीं। वह कभी इतनी दुर्बल न थी। बुन्देलों की हार ही क्यों होगी, इसका कोई कारण तो वह न बता सकती थी; पर वह भावना उसके विकल हृदय से किसी तरह न निकलती थी। उस अभागिन के भाग्य में प्रेम का सुख भोगना लिखा होता, तो क्या बचपन ही में मा मर जाती, पिता के साथ वन-वन घूमना पड़ता, खोहों और कन्दराओं में रहना पड़ता! और वह आश्रय भी तो बहुत दिन न रहा। पिता भी मुँह मोड़कर चल दिये। तब से उसे एक दिन भी तो आराम से बैठना नसीब न हुआ। विधना क्या अब अपना क्रूर कौतुक छोड़ देगा? आह! उसके दुर्बल हृदय में इस समय एक विचित्र भावना उत्पन्न हुई— ईश्वर उसके प्रियतम को आज सकुशल लाये, तो

वह उसे लेकर किसी दूर के गाँव में जा बसेगी, पति-देव की सेवा और आराधना में जीवन सफल करेगी। इस संग्राम से सदा के लिए मुँह मोड़ लेगी। आज पहली बार नारीत्व का भाव उसके मन में जाग्रत हुआ।

संध्या हो गई थी, सूर्य भगवान् किसी हारे हुए सिपाही की भाँति मस्तक झुकाये कोई आड़ खोज रहे थे। सहसा एक सिपाही नंगे सिर, नंगे पाँव, निश्शस्त्र, उसके सामने आकर खड़ा हो गया। चिन्ता पर वज्रपात हो गया। एक क्षण तक मर्माहत-सी बैठी रही। फिर उठकर घबराई हुई सैनिक के पास आई, और आतुर स्वर में पूछा—कौन-कौन बचा ?

सैनिक ने कहा—कोई नहीं !

'कोई नहीं ! कोई नहीं !!'

चिन्ता सिर पकड़कर भूमि पर बैठ गई। सैनिक ने फिर कहा—मरहठे समीप आ पहुँचे।

'समीप आ पहुँचे !!'

'बहुत समीप !'

'तो तुरंत चिता तैयार करो। समय नही है।'

'अभी हम लोग तो सिर कटाने को हाज़िर ही हैं।'

'तुम्हारी जैसी इच्छा। मेरे कर्तव्य का तो यहीं अन्त है।'

'क़िला बन्द करके हम महीनों लड़ सकते हैं।'

'तो जाकर लड़ो मेरी लड़ाई अब किसी से नहीं।'

एक ओर अन्धकार प्रकाश को पैरों-तले कुचलता चला आता था, दूसरी ओर विजयी मरहठे लहराते हुए खेतों को ; और क़िले में चिता बन रही थी। ज्योंही दीपक जले, चिता में भी आग लगी। सती चिन्ता, सोलहों शृङ्गार किये, अनुपम छवि दिखाती हुई, प्रसन्न-मुख अग्नि-मार्ग से पतिलोक की यात्रा करने जा रही थी।

(८)

चिता के चारो ओर स्त्री और पुरुष जमा थे। शत्रुओं ने क़िले को घेर लिया है, इसकी किसी को फ़िक्र न थी। शोक और संताप से सबके चेहरे उदास और सिर झुके थे। अभी कल इसी आँगन में विवाह का मंडप सजाया गया था। जहाँ इस समय चिता सुलग रही है, वहीं कल हवनकुण्ड था। कल भी इसी भाँति अग्नि की लपटें उठ रही थीं, इसी भाँति लोग जमा थे; पर आज और कल के दृश्यों में कितना अन्तर है! हाँ, स्थूल नेत्रों के लिए अन्तर हो सकता है; पर वास्तव में यह उसी यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसी प्रतिज्ञा का पालन है।

सहसा घोड़े की टापों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। मालूम होता था, कोई सिपाही घोड़े को सरपट भगाता चला आ रहा है। एक क्षण में टापों की आवाज़ बन्द हो गई, और एक सैनिक आँगन में दौड़ा हुआ आ पहुँचा। लोगों ने चकित होकर देखा यह रत्नसिंह था!

रत्नसिंह चिता के पास जाकर हाँफता हुआ बोला—प्रिये, मैं तो अभी जीवित हूँ, यह तुमने क्या कर डाला!

चिता में आग लग चुकी थी! चिन्ता की साड़ी से अग्नि की ज्वाला निकल रही थी। रत्नसिंह उन्मत की भाँति चिता में घुस गया, और चिन्ता का हाथ पकड़कर उठाने लगा। लोगों ने चारो ओर से लपक-लपककर चिता की लकड़ियाँ हटानी शुरू कीं; पर चिन्ता ने पति की ओर आँख उठाकर भी न देखा, केवल हाथों से उसे हट जाने का संकेत किया।

रत्नसिंह सिर पीटकर बोला—हाय प्रिये! तुम्हें क्या हो गया है, मेरी ओर देखतीं क्यों नहीं, मैं तो जीवित हूँ।

चिता से आवाज़ आई—तुम्हारा नाम रत्नसिंह है; पर तुम मेरे रत्नसिंह नहीं हो।

'तुम मेरी तरफ़ देखो तो, मैं ही तुम्हारा दास, तुम्हारा उपासक, तुम्हारा पति हूँ।'

'मेरे पति ने वीर-गति पाई।'

'हाय! कैसे समझाऊँ! अरे लोगो, किसी भाँति अग्नि को शांत करो। मैं रत्नसिंह ही हूँ प्रिये! क्या तुम मुझे पहचानती नहीं हो?'

अग्नि शिखा चिन्ता के मुख तक पहुँच गई। अग्नि में कमल खिल गया। चिन्ता स्पष्ट स्वर में बोली—खूब पहचानती हूँ। तुम मेरे रत्नसिंह नहीं। मेरा रत्नसिंह सच्चा शूर था। वह आत्म-रक्षा के लिए, इस तुच्छ देह को बचाने के लिए, अपने क्षत्रिय-धर्म का परित्याग न कर सकता था। मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है। रत्नसिंह को बदनाम मत करो। वह वीर राजपूत था, रणक्षेत्र से भागने-वाला कायर नहीं।

अन्तिम शब्द निकले ही थे कि अग्नि की ज्वाला चिन्ता के सिर के ऊपर जा पहुँची। फिर एक क्षण में वह अनुपम रूप-राशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती अग्नि-राशि में विलीन हो गई।

रत्नसिंह चुपचाप, हतबुद्धि-सा खड़ा यह शोकमय दृश्य देखता रहा। फिर अचानक एक ठण्ढी साँस खींचकर उसी चिता में कूद पड़ा।

हिंसा परमो धर्मः

दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो किसी के नौकर न होते हुए सबके नौकर होते हैं। जिन्हें कुछ अपना खास काम न होने पर भी सिर उठाने की फुरसत नहीं होती। जामिद इसी श्रेणी के मनुष्यों में था। बिलकुल बेफिक्र, न किसी से दोस्ती, न किसी से दुश्मनी। जो ज़रा हँसकर बोला, उसका बे-दाम का गुलाम हो गया। बेकाम का काम करने में उसे मज़ा आता था। गाँव में कोई बीमार पड़े, वह रोगी की सेवा-शुश्रूषा के लिए हाज़िर है। कहिये, तो आधीरात को हकीम के घर चला जाय, किसी जड़ी-बूटी की तलाश में मंज़िलों की ख़ाक छान आये। मुमकिन न था कि वह किसी ग़रीब पर अत्याचार होते देखे और चुप रह जाय। फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले, वह हिमायत करने से बाज़ न आता था। ऐसे सैकड़ों ही मार्के उसके सामने आ चुके थे। कांस्टेबिलों से आये दिन उसकी छेड़-छाड़ होती ही रहती थी। इसीलिए लोग उसे बौड़म समझते थे। और बात भी यही थी। जो आदमी किसी का बोझ भारी देखकर, उससे छीनकर, अपने सिर पर ले ले, किसी का छप्पर उठाने या आग बुझाने के लिए कोसों दौड़ा चला जाय, उसे समझदार कौन कहेगा? सारांश यह कि उसकी ज़ात से दूसरों को चाहे कितना ही

फ़ायदा पहुँचे, अपना कोई उपकार न होता था ; यहाँ तक कि वह रोटियों के लिए भी दूसरों का मुहताज था। दीवाना तो वह था, और उसका ग़म दूसरे खाते थे।

(२)

आख़िर जब लोगों ने बहुत धिक्कारा—क्यों अपना जीवन नष्ट कर रहे हो, तुम दूसरों के लिए मरते हो, कोई तुम्हारा भी पूछनेवाला है ? अगर एक दिन बीमार पड़ जाओ, तो कोई चुल्लू भर पानी न दे ; जब तक दूसरों की सेवा करते हो, लोग ख़ैरात समझकर खाने को दे देते हैं ; जिस दिन आ पड़ेगी, कोई सीधे मुँह बात भी न करेगा, तब जामिद की आँखें खुलीं। बरतन-भाँड़ा कुछ था ही नहीं। एक दिन उठा, और एक तरफ़ की राह ली। दो दिन के बाद एक शहर में जा पहुँचा। शहर बहुत बड़ा था। महल आसमान से बातें करनेवाले। सड़कें चौड़ी और साफ़। बाज़ार गुलज़ार ; मसजिदों और मन्दिरों की संख्या अगर मकानों से अधिक न थी, तो कम भी नहीं। देहात में न तो कोई मसजिद थी, न कोई मन्दिर। मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज़ पढ़ लेते थे। हिन्दू एक वृक्ष के नीचे पानी चढ़ा दिया करते थे, नगर में धर्म का यह माहात्म्य देखकर जामिद को बड़ा कुतूहल और आनन्द हुआ। उसकी दृष्टि में मज़हब का जितना सम्मान था, उतना और किसी सांसारिक वस्तु का नहीं ! वह सोचने लगा—ये लोग कितने ईमान के पक्के, कितने सत्यवादी हैं। इनमें कितनी दया, कितना विवेक, कितनी सहानुभूति होगी तभी तो खुदा ने इन्हें इतना माना है। वह हर आने-जानेवाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखता और उसके सामने विनय से सिर झुकाता था। यहाँ के सभी प्राणी उसे देवता-तुल्य मालूम होते थे।

घूमते-घूमते साँझ हो गई। वह थककर एक मन्दिर के

बार भोग चुका था। उसे दुःख और आश्चर्य केवल इस बात का था कि इन लोगों ने क्यों एक दिन मेरा इतना सम्मान किया, और क्यों आज अकारण ही मेरी इतनी दुर्गति की? इनकी वह सज्जनता आज कहाँ गई? मैं तो वही हूँ। मैंने कोई क़ुसूर भी नहीं किया। मैंने तो वही किया, जो ऐसी दशा में सभी को करना चाहिये। फिर इन लोगों ने मुझ पर क्यों इतना अत्याचार किया? देवता क्यों राक्षस बन गये?

वह रात भर इसी उलझन में पड़ा रहा। प्रातःकाल उठकर एक तरफ़ की राह ली।

(४)

जामिद अभी थोड़ी ही दूर गया था कि वही बुड्ढा उसे मिला। उसे देखते ही वह बोला—क़सम खुदा की, तुमने कल मेरी जान बचा दी। सुना, जालिमों ने तुम्हें बुरी तरह पीटा। मैं तो मौक़ा पाते ही निकल भागा। अब तक कहाँ थे? यहाँ लोग रात ही से तुमसे मिलने के लिए बेक़रार हो रहे हैं। क़ाज़ी साहब रात ही से तुम्हारी तलाश में निकले थे, मगर तुम न मिले। कल हम दोनो अकेले पड़ गये थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज़ का वक्त था, यहाँ सब लोग मसजिद में थे; अगर ज़रा भी ख़बर हो जाती, तो एक हज़ार लठैत पहुँच जाते। तब आटे-दाल का भाव मालूम होता। क़सम खुदा की, आज से मैंने तीन कोरी मुर्गियाँ पाली हैं। देखूँ, पण्डितजी महाराज अब क्या करते हैं? क़सम खुदा की, क़ाज़ी साहब ने कहा है, अगर वह लौंडा ज़रा भी आँखें दिखाये, तो तुम आकर मुझसे कहना। या तो बचा घर छोड़कर भागेंगे, या हड्डी-पसली तोड़कर रख दी जायँगी।

जामिद को लिये हुए वह बुड्ढा क़ाज़ी जोरावरहुसैन के दरवाज़े पर पहुँचा। क़ाज़ी साहब वज़ू कर रहे थे। जामिद को

देखते ही दौड़कर गले लगा लिया, और बोले--वल्लाह ! तुम्हें आँखें ढूँढ़ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफ़िरों के दाँत खट्टे कर दिये ! क्यों न हो, मोमिन का खून है ! काफ़िरों की हक़ीक़त क्या ! सुना, सब के सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे ; मगर तुमने उनके सारे मनसूबे पलट दिये। इस्लाम को ऐसे ही खादिमों की ज़रूरत है। तुम्हीं-जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। ग़लती यही हुई कि तुमने एक महीने भर तक सब्र नहीं किया। शादी हो जाने देते, तब मज़ा आता। एक नाज़नीन साथ लाते, और दौलत मुफ़्त। वल्लाह ! तुमने उज़लत कर दी।

दिन भर भक्तों का ताँता लगा रहा। जामिद को एक नज़र देखने का सबको शौक़ था। सभी उसकी हिम्मत, ज़ोर और मज़हबी जोश की प्रशंसा करते थे।

(५)

पहर रात बीत चुकी थी। मुसाफ़िरों की आमदरफ़्त कम हो चली थी। जामिद ने काज़ी साहब से धर्म-ग्रन्थ पढ़ना शुरू किया था। उन्होंने उसके लिए अपने बगल का कमरा खाली कर दिया था। वह क़ाज़ी साहब से सबक लेकर आया, और सोने जा रहा था कि सहसा उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज़ सुनाई दी। क़ाज़ी साहब के मुरीद अक्सर आया करते थे। जामिद ने सोचा, कोई मुरीद आया होगा। नीचे आया, तो देखा—एक स्त्री ताँगे से उतरकर बरामदे में खड़ी है, और ताँगेवाला उसका असबाब उतार रहा है।

महिला ने मकान को इधर-उधर देखकर कहा—नहीं जी, मुझे अच्छी तरह ख़याल है, उनका मकान यह नहीं है। शायद तुम भूल गये हो।

ताँगेवाला—हुज़ूर तो मानती ही नहीं। कह दिया कि बाबू

साहब ने मकान तब्दील कर दिया है। ऊपर चलिये।

स्त्री ने कुछ झिझकते हुए कहा—बुलाते क्यों नहीं ? आवाज़ दो !

ताँगेवाले—ओ साहब, आवाज़ क्या दूँ, जब जानता हूँ साहब का यही मकान है, तो नाहक चिल्लाने से क्या फ़ायदा ? बेचारे आराम कर रहे होंगे। आराम में ख़लल पड़ेगा। आप निसाख़ातिर रहिये। चलिये. ऊपर चलिये।

औरत ऊपर चली। पीछे-पीछे ताँगेवाला असबाब लिये हुए चला। जामिद गुम-शुम नीचे खड़ा रहा। यह रहस्य उसकी समझ में न आया।

ताँगेवाले की आवाज़ सुनते ही क़ाज़ी साहब छत पर निकल आये, और एक औरत को आते देख कमरे की खिड़कियाँ चारों तरफ से बन्द करके खूँटी पर लटकती हुई तलवार उतार ली, और दरवाजे पर आकर खड़े हो गये।

औरत ने जीना तय करके ज्योंही छत पर पैर रखा कि काज़ी साहब को देखकर झिझकी। वह तुरन्त पीछे की तरफ मुड़ना चाहती थी कि काज़ी साहब ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया, और अपने कमरे में घसीट लाये। इसी बीच में जामिद और ताँगेवाला, ये दोनो भी ऊपर आ गये थे। जामिद यह दृश्य देखकर विस्मित हो गया था। रहस्य और भी रहस्यमय हो गया था। यह विद्या का सागर, यह न्याय का भांडार, यह नीति, धर्म और दर्शन का आगार, इस समय एक अपरिचित महिला के ऊपर यह घोर अत्याचार कर रहा है। ताँगेवाले के साथ वह भी काज़ी साहब के कमरे में चला गया। काज़ी साहब तो स्त्री के दोनो हाथ पकड़े हुए थे। ताँगेवाले ने दरवाज़ा बन्द कर दिया।

महिला ने ताँगेवाले की ओर खून-भरी आँखों से देखकर

कहा—तू मुझे यहाँ क्यों लाया ?

क़ाज़ी साहब ने तलवार चमकाकर कहा—पहले आराम से बैठ जाओ, सब कुछ मालूम हो जायगा।

औरत—तुम तो मुझे कोई मौलवी मालूम होते हो ? क्या तुम्हें खुदा ने यही सिखाया है कि पराई बहू-बेटियों को जबर-दस्ती घर में बन्द करके उनकी आबरू बिगाड़ो ?

क़ाज़ी—हाँ, खुदा का यही हुक्म है कि काफ़िरों को जिस तरह मुमकिन हो, इस्लाम के रास्ते पर लाया जाय। अगर खुशी से न आयें, तो जब्र से।

औरत—इसी तरह अगर कोई तुम्हारी बहू-बेटी पकड़कर बे-आबरू करे, तो ?

क़ाज़ी—हो ही रहा है। जैसा तुम हमारे साथ करोगे, वैसा ही हम तुम्हारे साथ करेंगे। फिर हम तो बे-आबरू नहीं करते, सिर्फ़ अपने मज़हब में शामिल करते हैं। इस्लाम कबूल करने से आबरू बढ़ती है, घटती नहीं। हिन्दू क़ौम ने तो हमें मिटा देने का बीड़ा उठाया है। वह इस मुल्क से हमारा निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से, लालच से, जब्र से मुसल-मानों को बेदीन बनाया जा रहा है, तो क्या मुसलमान बैठे मुँह ताकेंगे ?

औरत—हिन्दू कभी ऐसा अत्याचार नहीं कर सकता। सम्भव है, तुम लोगों की शरारतों से तंग आकर नीचे दर्जे के लोग इस तरह बदला लेने लगे हों; मगर अब भी कोई सच्चा हिन्दू इसे पसन्द नहीं करता।

क़ाज़ी साहब ने कुछ सोचकर कहा—बेशक, पहले इस तरह की शरारतें मुसलमान शोहदे किया करते थे। मगर शरीफ़ लोग इन हरकतों को बुरा समझते थे, और अपने इमकान भर रोकने की कोशिश करते थे। तालीम और तहज़ीब की तरक्की

के साथ कुछ दिनों में यह गुण्डापन जरूर गायब हो जाता ; मगर अब तो सारी हिन्दू क़ौम हमें निगलने के लिए तैयार बैठी हुई है। फिर हमारे लिए और रास्ता ही कौन-सा है। हम कमज़ोर हैं ; इसलिए हमें मजबूर होकर अपने को क़ायम रखने के लिए दग़ा से काम लेना पड़ता है ; मगर तुम इतना घबराती क्यों हो ? तुम्हें यहाँ किसी बात की तकलीफ़ न होगी। इसलाम औरतों के हक़ का जितना लिहाज करता है, उतना और कोई मज़हब नहीं करता। और मुसलमान मर्द तो अपनी औरत पर जान देता है। मेरे यह नौजवान दोस्त (जामिद) तुम्हारे सामने खड़े हैं, इन्हीं के साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जायगा। बस, आराम से ज़िन्दगी के दिन बसर करना।

औरत—मैं तुम्हें और तुम्हारे धर्म को घृणित समझती हूँ। तुम कुत्ते हो। इसके सिवा तुम्हारे लिए कोई दूसरा नाम नहीं। ख़ैरियत इसी में है कि मुझे जाने दो ; नहीं तो मैं अभी शोर मचा दूँगी, और तुम्हारा सारा मौलवीपन निकल जायगा।

क़ाज़ी—अगर तुमने ज़बान खोली, तो तुम्हें जान से हाथ धोना पड़ेगा। बस, इतना समझ लो।

औरत—आबरू के सामने जान की कोई हक़ीक़त नहीं। तुम मेरी जान ले सकते हो ; मगर आबरू नहीं ले सकते।

क़ाज़ी—क्यों नाहक़ ज़िद करती हो ?

औरत ने दरवाज़े के पास जाकर कहा—मैं कहती हूँ, दरवाज़ा खोल दो।

जामिद अब तक चुपचाप खड़ा था। ज्योंही स्त्री दरवाज़े की तरफ़ चली, और क़ाज़ी साहब ने उसका हाथ पकड़कर खींचा, जामिद ने तुरन्त दरवाज़ा खोल दिया, और क़ाज़ी साहब से बोला—इन्हें छोड़ दीजिये।

क़ाज़ी—क्या बकता है ?

जामिद—कुछ नहीं। ख़ैरियत इसी में है कि इन्हें छोड़ दीजिये।

लेकिन जब क़ाज़ी साहब ने उस महिला का हाथ न छोड़ा, और ताँगेवाला भी उसे पकड़ने के लिए बढ़ा, तो जामिद ने एक धक्का देकर क़ाज़ी साहब को ढकेल दिया। और उस स्त्री का हाथ पकड़े हुए कमरे से बाहर निकल गया। ताँगेवाला पीछे लपका; मगर जामिद ने उसे इतने ज़ोर से धक्का दिया कि वह औंधे-मुँह जा गिरा। एक क्षण में जामिद और स्त्री, दोनो सड़क पर थे।

जामिद—आपका घर किस मुहल्ले में है?

औरत—अहियागंज में।

जामिद—चलिये, मैं आपको पहुँचा आऊँ।

औरत—इससे बड़ी और क्या मेहरबानी होगी। मैं आपकी इस नेकी को कभी न भूलूँगी। आपने आज मेरी आबरू बचा ली, नहीं तो मैं कहीं की न रहती। मुझे अब मालूम हुआ कि अच्छे और बुरे सब जगह होते हैं। मेरे शौहर का नाम पंडित राजकुमार है।

उसी वक्त एक ताँगा सड़क पर आता दिखाई दिया। जामिद ने स्त्री को उस पर बिठा दिया, और खुद बैठना ही चाहता था कि ऊपर से क़ाज़ी साहब ने जामिद पर लट्ठ चलाया और डंडा ताँगे से टकराया। जामिद ताँगे में आ बैठा और ताँगा चल दिया।

अहियागंज में पंडित राजकुमार का पता लगाने में कोई कठिनाई न पड़ी। जामिद ने ज्योंही आवाज़ दी, वह घबराये हुए बाहर निकल आये, और स्त्री को देखकर बोले—तुम कहाँ रह गई थीं इन्दिरा? मैंने तो तुम्हें स्टेशन पर कहीं न देखा। मुझे पहुँचने में ज़रा देर हो गई थी। तुम्हें इतनी देर कहाँ लगी?

इन्दिरा ने घर के अन्दर क़दम रखते हुए कहा—बड़ी लम्बी कथा है जरा दम लेने दो, तो बता दूँगी। बस, इतना ही समझ लो कि आज अगर इस मुसलमान ने मेरी मदद न की होती, तो आबरू चली गई थी।

पंडितजी पूरी कथा सुनने के लिए और भी व्याकुल हो उठे। इन्दिरा के साथ ही वह भी घर में चले गये; पर एक ही मिनट के बाद बाहर आकर जामिद से बोले—भाई साहब, शायद आप बनावट समझें; पर मुझे आपके रूप में इस समय अपने इष्टदेव के दर्शन हो रहे हैं। मेरी ज़बान में इतनी ताक़त नहीं कि आपका शुक्रिया अदा कर सकूँ। आइये, बैठ जाइये।

जामिद—जी नहीं, अब मुझे इजाज़त दीजिये।

पंडित—मैं आपकी इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ?

जामिद—इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजियेगा, मेरी आपसे यही दर-ख्वास्त है।

यह कहकर जामिद चल खड़ा हुआ, और उस अँधेरी रात के सन्नाटे में शहर के बाहर निकल गया। उस शहर की विषाक्त वायु में साँस लेते हुए उसका दम घुटता था। वह जल्द से जल्द शहर से भागकर अपने गाँव में पहुँचना चाहता था, जहाँ मज़-हब का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द था। धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गई थी।

———

बहिष्कार

पण्डित ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखकर कहा—मुझे ऐसे निर्दयी प्राणियों से ज़रा भी सहानुभूति नहीं है। इस बर्बरता की भी कोई हद है कि जिसके साथ तीन वर्ष तक जीवन के सुख भोगे, उसे एक ज़रा-सी बात पर घर से निकाल दिया।

गोविन्दी ने आँखें नीची करके पूछा—आख़िर बात क्या हुई थी?

ज्ञान०—कुछ भी नहीं। ऐसी बातों में कोई बात होती है! शिकायत है कि कालिन्दी ज़बान की तेज़ है। तीन साल तक ज़बान की तेज़ न थी, आज ज़बान की तेज़ हो गई। कुछ नहीं, कोई दूसरी चिड़िया नज़र आई होगी। उसके लिए पिंजरे को ख़ाली करना आवश्यक था। बस, यह शिकायत निकल आई। मेरा बस चले तो ऐसे दुष्टों को गोली मार दूँ। मुझे कई बार कालिन्दी से बातचीत करने का अवसर मिला है। मैंने ऐसी हँसमुख दूसरी स्त्री ही नहीं देखी।

गोविन्दी—तुमने सोमदत्त को समझाया नहीं?

ज्ञान०—ऐसे लोग समझाने से नहीं मानते। यह लात का आदमी है, बातों की उसे क्या परवा? मेरा तो यह विचार है कि जिससे एक बार सम्बन्ध हो गया, फिर चाहे वह अच्छी हो

या बुरी, उसके साथ जीवन भर निर्वाह करना चाहिये। मैं तो कहता हूँ, अगर स्त्री के कुल में कोई दोष भी निकल आये, तो क्षमा से काम लेना चाहिये।

गोविन्दी ने कातर नेत्रों से देखकर कहा—ऐसे आदमी तो बहुत कम होते हैं।

ज्ञान०—समझ ही में नहीं आता कि जिसके साथ इतना दिन हँसे-बोले, जिसके प्रेम की स्मृतियाँ हृदय के एक-एक अणु में समाई हुई हैं, उसे दर-दर ठोकरें खाने को कैसे छोड़ दिया। कम से कम इतना तो करना चाहिये था कि उसे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देते और उसके निर्वाह का कोई प्रबन्ध कर देते। निर्दयी ने इस तरह घर से निकाला, जैसे कोई कुत्ते को निकाले। बेचारी गाँव के बाहर बैठी रो रही है। कौन कह सकता है, कहाँ जायगी। शायद मायके में भी कोई नहीं रहा। सोमदत्त के डर के मारे गाँव का कोई आदमी उसके पास भी नहीं जाता। ऐसे बगड़ का क्या ठिकाना! जो आदमी स्त्री का न हुआ, वह दूसरे का क्या होगा। उसकी दशा देखकर मेरी आँखों में तो आँसू भर आये। जी में तो आया, कहूँ—बहन, तुम मेरे घर चलो; मगर तब तो सोमदत्त मेरे प्राणों का गाहक हो जाता!

गोविन्दी—तुम जरा जाकर एक बार फिर समझाओ। अगर वह किसी तरह न मानें, तो कालिन्दी को लेते आना।

ज्ञान०—जाऊँ?

गोविन्दी—हाँ, अवश्य जाओ; अगर सोमदत्त कुछ खरी-खोटी भी कहे, तो सुन लेना।

ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी को गले लगाकर कहा—तुम्हारे हृदय में बड़ी दया है गोविन्दी। लो जाता हूँ; अगर सोमदत्त न माना, तो कालिन्दी ही को लेता आऊँगा। अभी बहुत दूर न गई होगी।

(२)

तीन वर्ष बीत गये। गोविन्दी एक बच्चे की मा हो गई। कालिन्दी अभी तक इसी घर में है। उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया है। गोविन्दी और कालिन्दी में बहनों का-सा प्रेम है। गोविन्दी सदैव उनकी दिलजोई करती रहती है। वह इसकी कल्पना भी नहीं करती कि यह कोई गैर है और मेरी रोटियों पर पड़ी हुई है; लेकिन सोमदत्त को कालिन्दी का यहाँ रहना एक आँख नहीं भाता। वह कोई क़ानूनी काररवाई करने की तो हिम्मत नहीं रखता। और इस परिस्थिति में कर ही क्या सकता है; लेकिन ज्ञानचन्द्र का सिर नीचा करने के लिए अवसर खोजता रहता है।

सन्ध्या का समय था। ग्रीष्म की उष्ण वायु अभी तक बिल्कुल शान्त नहीं हुई थी। गोविन्दी गङ्गा-जल भरने गई थी और जल-तट की शीतल निर्जनता का आनन्द उठा रही थी। सहसा उसे सोमदत्त आता हुआ दिखाई दिया। गोविन्दी ने आँचल से मुँह छिपा लिया और कलसा लेकर चलने ही को थी कि सोमदत्त ने सामने आकर कहा—ज़रा ठहरो गोविन्दी, तुमसे एक बात कहना है। तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि तुमसे कहूँ या ज्ञानू से।

गोविन्दी ने धीरे से कहा—उन्हीं से कह दीजिये।

सोम०—जी तो मेरा भी यही चाहता है; लेकिन तुम्हारी दीनता पर दया आती है। जिस दिन मैं ज्ञानचन्द्र से वह बात कह दूँगा, तुम्हें इस घर से निकलना पड़ेगा। मैंने सारी बातों का पता लगा लिया है। तुम्हारा बाप कौन था, तुम्हारी मा की क्या दशा हुई, यह सारी कथा जानता हूँ। क्या तुम समझती हो कि ज्ञानचन्द्र यह कथा सुनकर तुम्हें अपने घर में रखेगा? उसके विचार कितने ही स्वाधीन हों; पर जीती मक्खी नहीं निगल सकता।

गोविन्दी ने थरथर काँपते हुए कहा—जब आप सारी बातें जानते हैं, तो मैं क्या कहूँ ? आप जैसा उचित समझें, करें; लेकिन मैंने तो आपके साथ कभी कोई बुराई नहीं की।

सोम०—तुम लोगों ने गाँव में मुझे कहीं मुँह दिखाने के योग्य नहीं रखा। तिस पर कहती हो, मैंने तुम्हारे साथ कोई बुराई नहीं की ! तीन साल से कालिन्दी को आश्रय देकर तुमने मेरी आत्मा को जो कष्ट पहुँचाया है, वह मैं ही जानता हूँ। तीन साल से मैं ऐसी फ़िक्र में था कि कैसे इस अपमान का दण्ड लूँ। अब वह अवसर पाकर उसे किसी तरह नहीं छोड़ सकता।

गोविन्दी—अगर आपकी यही इच्छा है कि मैं यहाँ न रहूँ, तो मैं चली जाऊँगी, आज ही चली जाऊँगी; लेकिन उनसे आप कुछ न कहिये। आपके पैरों पड़ती हूँ !

सोम०—कहाँ चली जाओगी ?

गोविन्द—और कहीं ठिकाना नहीं है, तो गङ्गाजी तो हैं।

सोम०—नहीं गोविन्दी, मैं इतना निर्दयी नहीं हूँ। मैं केवल इतना चाहता हूँ कि तुम कालिन्दी को अपने घर से निकाल दो। और मैं कुछ नहीं चाहता। तीन दिन का समय देता हूँ, खूब सोच-विचार लो। अगर कालिन्दी तीसरे दिन तुम्हारे घर से न निकली, तो तुम जानोगी।

सोमदत्त वहाँ से चला गया। गोविन्दी कलसा लिये मूर्ति की भाँति खड़ी रह गई। उसके सम्मुख कठिन समस्या आ खड़ी हुई थी, वह थी कालिन्दी ! घर में एक ही रह सकती थी। दोनो के लिए उस घर में स्थान न था। क्या कालिन्दी के लिए वह अपना घर, अपना स्वर्ग त्याग देगी? कालिन्दी अकेली है, पति ने उसे पहले ही छोड़ दिया है, वह जहाँ चाहे जा सकती है; पर वह अपने प्राणाधार और प्यारे बच्चे को छोड़कर कहाँ जायगी ?

लेकिन कालिन्दी से वह क्या कहेगी ? जिसके साथ इतने दिनों तक बहनों की तरह रही, उसे क्या वह अपने घर से निकाल देगी ? उसका बच्चा कालिन्दी से कितना हिला हुआ था, कालिन्दी उसे कितना चाहती थी। क्या उस परित्यक्ता दीना को वह अपने घर से निकाल देगी ? इसके सिवा और उपाय ही क्या था ? उसका जीवन अब एक स्वार्थी, दम्भी व्यक्ति की दया पर अवलम्बित था। क्या अपने पति के प्रेम पर वह भरोसा कर सकती थी ? ज्ञानचन्द्र सहृदय थे, उदार थे, विचारशील थे, दृढ़ थे; पर क्या उनका प्रेम अपमान, व्यंग्य और बहिष्कार जैसे आघातों को सहन कर सकता था ?

(३)

उसी दिन से गोविन्दी और कालिन्दी में कुछ पार्थक्य-सा दिखाई देने लगा। दोनो अब बहुत कम साथ बैठतीं। कालिन्दी पुकारती—बहन, आकर खाना खा लो। गोविन्दी कहती—तुम खा लो, मैं फिर खा लूँगी। पहले कालिंदी बालक को सारे दिन खिलाया करती थी, मा के पास केवल दूध पीने जाता था। मगर अब गोविन्दी हरदम उसे अपने ही पास रखती है। दोनो के बीच में कोई दीवार खड़ी हो गई है। कालिन्दी बार-बार सोचती है, आजकल मुझसे यह क्यों रूठी हुई हैं। पर उसे कोई कारण नहीं दिखाई देता। उसे भय हो रहा है कि कदाचित् यह अब मुझे यहाँ नहीं रखना चाहती। इसी चिन्ता में वह गोते खाया करती है; किन्तु गोविन्दी भी उससे कम चिन्तित नहीं है। कालिन्दी से वह स्नेह तोड़ना चाहती है; पर उसकी म्लान मूर्ति देखकर उसके हृदय के टुकड़े हो जाते हैं। उससे कुछ कह नहीं सकती। अवहेलना के शब्द मुँह से नहीं निकलते। कदाचित् उसे घर से जाते देखकर वह रो पड़ेगी और

उसे ज़बरदस्ती रोक लेगी। इसी हैस-बैस में तीन दिन गुज़र गये। कालिन्दी घर से न निकली। तीसरे दिन संध्या समय सोमदत्त नदी के तट पर बड़ी देर तक खड़ा रहा। अन्त को जब चारो अँधेरा छा गया। फिर भी पीछे फिर-फिरकर जल-तट की ओर देखता जाता था!

रात के दस बज गये हैं। अभी ज्ञानचन्द्र घर नहीं आये। गोविन्दी घबरा रही है। उन्हें इतनी देर तो कभी नहीं होती थी। आज इतनी देर कहाँ लगा रहे हैं? शंका से उसका हृदय काँप रहा है।

सहसा मरदाने कमरे का द्वार खुलने की आवाज़ आई। गोविन्दी दौड़ी हुई बैठक में आई; लेकिन पति का मुख देखते ही उसकी सारी देह शिथिल पड़ गई। उस मुख पर हास्य था; पर उस हास्य में भाग्य-तिरस्कार झलक रहा था। विधि-वाम ने ऐसे सीधे-सादे मनुष्य को भी अपने क्रीड़ा-कौशल के लिए चुन लिया, क्या यह रहस्य रोने के योग्य था? रहस्य रोने की वस्तु नहीं, हँसने ही की वस्तु है।

ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी की ओर नहीं देखा। कपड़े उतारकर सावधानी से अलगनी पर रखे, जूता उतारा और फ़र्श पर बैठकर एक पुस्तक के पन्ने उलटने लगे।

गोविन्दी ने डरते-डरते कहा—आज इतनी देर कहाँ की। भोजन ठण्ढा हो रहा है।

ज्ञानचन्द्र ने फर्श की ओर ताकते हुए कहा—तुम लोग भोजन कर लो, मैं एक मित्र के घर खा आया हूँ।

गोविन्दी इसका आशय समझ गई! एक क्षण के बाद फिर बोली—चलो, थोड़ा ही सा खा लो।

ज्ञान०—अब बिलकुल भूख नहीं है।

गोविन्दी—तो मैं भी जाकर सो रहती हूँ।

ज्ञानचन्द्र ने अब गोविन्दी की ओर देखकर कहा—क्यों? तुम क्यों न खाओगी?

गोविन्दी—मैं तुम्हारी ही थाली का जूठन खाया करती हूँ। इससे अधिक वह और कुछ न कह सकी। गला भर आया।

ज्ञानचन्द्र ने उसके समीप आकर कहा—मैं सच कहता हूँ गोविन्दी, एक मित्र के घर भोजन कर आया हूँ। तुम जाकर खा लो।

(४)

गोविन्दी पलंग पर पड़ी हुई चिन्ता, नैराश्य और विषाद के अपार सागर में गोते खा रही थी। यदि कालिन्दी का उसने बहिष्कार कर दिया होता, तो आज उसे इस विपत्ति का सामना न करना पड़ता; किंतु यह अमानुषीय व्यवहार उसके लिए असाध्य था और इस दशा में भी उसे इसका दुःख न था। ज्ञानचन्द्र की ओर से यों तिरस्कृत होने का भी उसे दुःख न था। जो ज्ञानचन्द्र नित्य धर्म और सज्जनता की डींगें मारा करता था, वही आज इसका इतनी निर्दयता से बहिष्कार करता हुआ जान पड़ता था, इस पर उसे लेशमात्र भी दुःख, क्रोध या द्वेष न था। उसके मन को केवल एक ही भावना आन्दोलित कर रही थी। वह अब इस घर में कैसे रह सकती है। अब तक वह इस घर की स्वामिनी थी, इसीलिए न कि वह अपने पति के प्रेम की स्वामिनी थी; पर अब वह उस प्रेम से वञ्चित हो गई थी। अब इस घर पर उसका क्या अधिकार था। वह अब अपने पति को मुँह ही कैसे दिखा सकती थी। वह जानती थी, ज्ञानचन्द्र अपने मुँह से उसके विरुद्ध एक शब्द भी न निकालेंगे; पर उसके विषय में ऐसी बातें जानकर क्या वह उससे प्रेम कर सकते थे? कदापि नहीं, इस वक्त न जाने क्या समझकर चुप रहे। सवेरे तूफान उठेगा। कितने ही विचारशील हों; पर

अपने समाज से निकाला जाना कौन पसन्द करेगा। स्त्रियों की संसार में कमी नहीं। मेरी जगह हज़ारों मिल जायँगी। मेरी किसी को क्या परवा। अब यहाँ रहना बेहयाई है। आखिर कोई लाठी मारकर थोड़े ही निकाल देगा। हयादार के लिए आँख का इशारा बहुत है। मुँह से न कहें, मन की बात और भाव छिपे नहीं रहते; लेकिन मीठी निद्रा की गोद में सोये हुए शिशु को देखकर ममता ने उसके अशक्त हृदय को और भी कातर कर दिया। इस अपने प्राणों के आधार को वह कैसे छोड़ेगी?

शिशु को उसने गोद में उठा लिया और खड़ी रोती रही। तीन साल कितने आनन्द से गुज़रे। उसने समझा था इसी भाँति सारा जीवन कट जायगा; लेकिन उसके दुर्भाग्य में इससे अधिक सुख भोगना लिखा ही न था। करुण वेदना में डूबे हुए ये शब्द उसके मुख से निकल आये—भगवन्! अगर तुम्हें इस भाँति मेरी दुर्गति करनी थी, तो तीन साल पहले क्यों न की। उस वक्त यदि तुमने मेरे जीवन का अन्त कर दिया होता, तो मैं तुम्हें धन्यवाद देती। तीन साल तक सौभाग्य के सुरम्य उद्यान में सौरभ, समीर और माधुर्य का आनन्द उठाने के बाद इस उद्यान ही को उजाड़ दिया। हा! जिन पौधों को उसने अपने प्रेम-जल से सींचा था, वे अब निर्मल दुर्भाग्य के पैरों तले कितनी निष्ठुरता से कुचले जा रहे थे। ज्ञानचन्द्र के शील और स्नेह का स्मरण आया, तो वह रो पड़ी। मृदु स्मृतियाँ आ-आकर हृदय को मसोसने लगीं।

सहसा ज्ञानचन्द्र के आने से वह सँभल बैठी। कठोर से कठोर बातें सुनने के लिए उसने अपने हृदय को कड़ा कर लिया; किन्तु ज्ञानचन्द्र के मुख पर रोष का चिन्ह भी न था। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—क्या तुम अभी तक सोई नहीं?

जानती हो कै बजे हैं, बारह से ऊपर हैं।

गोविन्दी ने सहमते हुए कहा—तुम भी तो अभी नहीं सोये।

ज्ञान०—मैं न सोऊँ, तो तुम भी न सोओ? मैं न खाऊँ, तो तुम भी न खाओ? मैं बीमार पड़ूँ, तो तुम भी बीमार पड़ो? यह क्यों? मैं तो एक जन्म-पत्री बना रहा था। कल देनी होगी। तुम क्या करती रहीं, बोलो?

इन शब्दों में कितना सरल स्नेह था! क्या तिरस्कार के भाव इतने ललित शब्दों में प्रकट हो सकते हैं। प्रवञ्चकता क्या इतनी निर्मल हो सकती है? शायद सोमदत्त ने अभी वज्र का प्रहार नहीं किया। अवकाश न मिला होगा; लेकिन ऐसा है, तो आज घर इतनी देर में क्यों आये? भोजन क्यों न किया, मुझसे बोले तक नहीं, आँखें लाल हो रही थीं। मेरी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं। क्या यह सम्भव है कि इनका क्रोध शान्त हो गया हो? यह सम्भावना की चरमसीमा से भी बाहर है। तो क्या सोमदत्त को मुझ पर दया आ गई, पत्थर पर दूब जमी! गोविन्दी कुछ निश्चय न कर सकी, और जिस भाँति गृह-सुख-विहीन पथिक वृक्ष की छाँह में भी आनन्द से पाँव फैलाकर सोता है, उसकी अव्यवस्था ही उसे निश्चिन्त बना देती है, उसी भाँति गोविन्दी मानसिक व्यग्रता में भी स्वस्थ हो गई। मुस्कुराकर स्नेह-मृदुल स्वर में बोली—तुम्हारी राह तो देख रही थी।

यह कहते-कहते गोविन्दी का गला भर आया। व्याध के जाल में फड़फड़ाती हुई चिड़िया क्या मीठे राग गा सकती है? ज्ञानचन्द्र ने चारपाई पर बैठकर कहा—झूठी बात, रोज़ तो तुम अब तक सो जाया करती थीं।

(५)

एक सप्ताह बीत गया; पर ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी से कुछ न पूछा, और न उनके बर्ताव ही से उनके मनोगत भावों का कुछ

परिचय मिला। अगर उनके व्यवहारों में कोई नवीनता थी, तो यह कि वह पहले से भी ज्यादा स्नेहशील, निर्द्वन्द्व और प्रफुल्ल वदन हो गये थे। गोविन्दी का इतना आदर और मान उन्होंने कभी न किया था। उनके प्रयत्नशील रहने पर भी गोविन्दी उनके मनोभावों को ताड़ रही थी और उसका चित्त प्रतिक्षण शंका से चञ्चल और क्षुब्ध रहता था। अब उसे इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं था कि सोमदत्त ने आग लगा दी है। गीली लकड़ी में पड़कर वह चिनगारी बुझ जायगी, या जंगल की सूखी पत्तियाँ हाहाकार करके जल उठेंगी, यह कौन जान सकता है; लेकिन इस सप्ताह के गुजरते ही अग्नि का प्रकोप होने लगा। ज्ञानचन्द्र एक महाजन के मुनीम थे। उस महाजन ने कह दिया—मेरे यहाँ अब आपका काम नहीं। जीविका का दूसरा साधन यजमानी थी। यजमान भी एक एक करके उन्हें जवाब देने लगे। यहाँ तक कि उनके द्वार पर लोगों का आना-जाना बन्द हो गया। आग सूखी पत्तियों में लगकर अब हरे वृक्ष के चारो ओर मँडराने लगी। पर, ज्ञानचन्द्र के मुख में गोविन्दी के प्रति एक भी कटु, अमृदु शब्द न था। वह इस सामाजिक दण्ड की शायद कुछ परवा न करते, यदि दुर्भाग्यवश इसने उनकी जीविका के द्वार न बन्द कर दिये होते। गोविन्दी सब कुछ समझती थी; पर संकोच के मारे कुछ कह न सकती थी। उसी के कारण उसके प्राणप्रिय पति की यह दशा हो रही है, यह उसके लिए डूब मरने की बात थी। पर, कैसे प्राणों का उत्सर्ग करे। कैसे जीवन-मोह से मुक्त हो। इस विपत्ति में स्वामी के प्रति उसके रोम-रोम से शुभ कामनाओं की सरिता-सी बहती थी; पर मुँह से एक शब्द भी न निकलता था। भाग्य की सबसे निष्ठुर लीला उस दिन हुई, जब कालिन्दी भी बिना कुछ कहे-सुने सोमदत्त के घर जा पहुँची। जिसके लिए यह सारी यात-

नाएँ झेलनी पड़ीं, उसी ने अन्त में बेवफ़ाई की। ज्ञानचन्द्र ने सुना, तो केवल मुसकुरा दिये; पर गोविन्दी इस कुटिल आघात को इतनी शान्ति से सहन न कर सकी। कालिन्दी के प्रति उसके मुख से अप्रिय शब्द निकल ही आये। ज्ञानचन्द्र ने कहा—उसे व्यर्थ ही कोसती हो। प्रिये, उसका कोई दोष नहीं। भगवान् हमारी परीक्षा ले रहे हैं। इस वक्त धैर्य के सिवा हमें किसी से कोई आशा न रखनी चाहिये।

जिन भावों को गोविन्दी कई दिनों से अन्तस्तल में दबाती चली आती थी, वे धैर्य का बाँध टूटते ही बड़े वेग से बाहर निकल पड़े। पति के सम्मुख अपराधियों की भाँति हाथ बाँधकर उसने कहा—स्वामी, मेरे ही कारण आपको यह सारे पापड़ बेलने पड़ रहे हैं। मैं ही आपके कुल की कलंकिनी हूँ। क्यों न मुझे किसी ऐसी जगह भेज दीजिये, जहाँ कोई मेरी सूरत न देखे। मैं आपसे सत्य कहती हूँ...।

ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी को और कुछ न कहने दिया। उसे हृदय से लगाकर बोले—प्रिये, ऐसी बातों से मुझे दुःखी न करो। तुम आज भी उतनी पवित्र हो, जितनी उस समय थी। जब देवताओं के समक्ष मैंने आजीवन पत्नीव्रत लिया था, तब मुझसे तुम्हारा परिचय न था। अब तो मेरी देह और मेरी आत्मा का एक-एक परमाणु तुम्हारे अक्षय प्रेम से आलोकित हो रहा है। उपहास और निन्दा की तो बात ही क्या है, दुर्दैव का कठोरतम आघात भी मेरे व्रत भंग नहीं कर सकता। अगर डूबेंगे, तो साथ-साथ डूबेंगे, तरेंगे तो साथ-साथ तरेंगे। मेरे जीवन का मुख्य कर्तव्य तुम्हारे प्रति है। संसार इसके पीछे—बहुत पीछे है।

गोविन्दी को जान पड़ा, उसके सम्मुख कोई देव-मूर्ति खड़ी है। स्वामी में इतनी श्रद्धा, इतनी भक्ति, उसे आज तक कभी

न हुई थी। गर्व से उसका मस्तक ऊँचा हो गया और मुख पर स्वर्गीय आत्मा झलक पड़ी। उसने फिर कुछ कहने का साहस न किया।

(६)

सम्पन्नता अपमान और बहिष्कार को तुच्छ समझती है। उसके अभाव में ये बाधाएँ प्राणान्तक हो जाती हैं। ज्ञानचन्द्र दिन के दिन घर में पड़े रहते। घर से बाहर निकलने का उन्हें साहस न होता था। जब तक गोविन्दी के पास गहने थे, तब तक तो भोजन की चिन्ता न थी। किन्तु, जब यह आधार भी न रह गया, तो हालत और भी खराब हो गई। कभी-कभी निराहार रह जाना पड़ता। अपनी व्यथा किससे कहें, कौन मित्र था? कौन अपना था?

गोविन्दी पहले भी हृष्ट-पुष्ट न थी; पर अब तो अनाहार और अन्तर्वेदना के कारण उसकी देह और भी जीर्ण हो गई थी। पहले शिशु के लिए दूध मोल लिया करती थी। अब इसकी सामर्थ्य न थी। बालक दिन-दिन दुर्बल होता जाता था। मालूम होता था, उसे सूखे का रोग हो गया है। दिन के दिन बच्चा खुर्री खाट पर पड़ा माता को नैराश्य-दृष्टि से देखा करता। कदाचित् उसकी बाल-बुद्धि भी अवस्था को समझती थी। कभी किसी वस्तु के लिए हठ न करता। उसकी बालोचित सरलता, चञ्चलता और क्रीड़ाशीलता ने अब एक दीर्घ, आशाविहीन प्रतीक्षा का रूप धारण कर लिया था। माता-पिता उसकी दशा देखकर मन ही मन कुढ़ कुढ़कर रह जाते थे।

सन्ध्या का समय था। गोविन्दी अँधेरे घर में बालक के सिरहाने चिन्ता में मग्न बैठी थी। आकाश पर बादल छाये हुए थे और हवा के झोंके उसके अर्द्धनग्न शरीर में शर के समान लगते थे। आज दिन भर बच्चे ने कुछ न खाया था। घर में

कुछ था ही नहीं। क्षुधाग्नि से बालक छटपटा रहा था; पर या तो वह रोना न चाहता था, या उसमें रोने की शक्ति ही न थी।

इतने में ज्ञानचन्द्र तेली के यहाँ से तेल लेकर आ पहुँचे। दीपक जला। दीपक के क्षीण प्रकाश में माता ने बालक का मुख देखा, तो सहम उठी। बालक का मुख पीला पड़ गया था और पुतलियाँ ऊपर चढ़ गई थीं। उसने घबराकर बालक को गोद में उठाया। देह ठण्ढी थी! चिल्लाकर बोली—हा भगवान्! मेरे बच्चे को क्या हो गया! ज्ञानचन्द्र ने बालक के मुख की ओर देखकर एक ठण्ढी साँस ली और बोले—ईश्वर, क्या सारी दया-दृष्टि हमारे ही ऊपर करोगे?

गोविन्दी—हाय! मेरा लाल मारे भूख के शिथिल हो गया है। कोई ऐसा नहीं, जो इसे दो घूँट दूध पिला दे।

यह कहकर उसने बालक को पति की गोद में दे दिया और एक लुटिया लेकर कालिन्दी के घर दूध माँगने चली। जिस कालिन्दी ने आज छः महीने से इस घर की ओर झाँका तक न था, उसी के द्वार पर दूध की भिक्षा माँगने जाते हुए उसे कितनी ग्लानि, कितना संकोच हो रहा था, वह भगवान् के सिवा और कौन जान सकता है। यह वही बालक है, जिस पर एक दिन कालिन्दी प्राण देती थी; पर उसकी ओर से अब उसने अपना हृदय इतना कठोर कर लिया था कि घर में कई गौएँ लगने पर भी कभी एक चिल्लू दूध न भेजा था। उसी की दया-भिक्षा माँगने आज, अँधेरी रात में, भीगती हुई गोविन्दी दौड़ी जा रही है। माता! तेरे वात्सल्य को धन्य है।

कालिन्दी दीपक लिये दालान में खड़ी गाय दुहा रही थी। पहले स्वामिनी बनने के लिए वह सौत से लड़ा करती थी। सेविका का पद उसे स्वीकार न था। अब सेविका का पद स्वीकार करके वह घर की स्वामिनी बनी हुई थी। गोविन्दी को

देखकर तुरन्त बाहर निकल आई और विस्मय से बोली—क्या है बहन, पानी-बूँदों में कैसे चली आई !

गोविन्दी ने सकुचाते हुए कहा—लाला बहुत भूखा है कालिन्दी। आज दिन भर कुछ नहीं मिला। थोड़ा-सा दूध लेने आई हूँ।

कालिन्दी भीतर जाकर दूध का मटका लिये बाहर निकल आई और बोली—जितना चाहो ले लो गोविन्दी। दूध की कौन कमी है। लाला तो अब चलता होगा। बहुत जी चाहता है कि जाकर उसे देख आऊँ; लेकिन जाने का हुकुम नहीं है। पेट पालना है, तो हुकुम मानना ही पड़ेगा। तुमने बतलाया ही नहीं, नहीं तो लाला के लिए दूध का तोड़ा थोड़ा ही है। मैं क्या चली आई कि तुमने उसका मुँह देखने को भी तरसा डाला। मुझे कभी पूछता है ?

यह कहते हुए कालिन्दी ने दूध का मटका गोविन्दी के हाथ में रख दिया। गोविन्दी की आँखों से आँसू बहने लगे। कालिन्दी इतनी दया करेगी, इसकी उसे आशा नहीं थी। अब उसे ज्ञात हुआ कि यह वही दयाशीला, सेवा-परायणा रमणी है, जो पहले थी। लेशमात्र भी अन्तर न था। बोली—इतना दूध लेकर क्या करूँगी बहन, इस लुटिया में डाल दो।

कालिन्दी—दूध छोटे-बड़े सब खाते हैं। ले जाओ, (धीरे से) यह मत समझो, कि मैं तुम्हारे घर से चली आई, तो बिरानी हो गई। तुम्हारा शील और स्नेह कभी न भूलूँगी। हाँ, निन्दा सुनने का साहस नहीं था। भगवान् की दया से अब यहाँ किसी बात की चिन्ता नहीं है। मुझसे कहने की देर है। हाँ, मैं आऊँगी नहीं। इससे लाचार हूँ। कल किसी बेला लाला को लेकर नदी किनारे आ जाना। देखने को बहुत जी चाहता है।

गोविन्दी दूध की हाँड़ी लिये घर चली, गर्व-पूर्ण आनन्द के

मारे उसके पैर उड़े जाते थे। ड्योढ़ी में पैर रखते ही बोली—ज़रा दिया दिखा देना, यहाँ कुछ सुझाई नहीं देता। ऐसा न हो दूध गिर पड़े।

ज्ञानचन्द्र ने दीपक दिखा दिया। गोविन्दी ने बालक को अपनी गोद में लेटाकर कटोरी से दूध पिलाना चाहा; पर एक घूँट से अधिक दूध कण्ठ में न गया। बालक ने हिचकी ली और अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

करुण रोदन से घर गूँज उठा। सारी बस्ती के लोग चौंक पड़े; पर जब मालूम हो गया कि ज्ञानचन्द्र के घर से आवाज़ आ रही है, तो कोई द्वार पर न आया। रात भर भग्न-हृदय दम्पती रोते रहे। प्रातःकाल ज्ञानचन्द्र ने शव उठा लिया और श्मशान की ओर चले। सैकड़ों आदमियों ने उन्हें जाते देखा; पर कोई समीप न आया!

(७)

कुल-मर्यादा संसार की सबसे उत्तम वस्तु है। उस पर प्राण तक न्योछावर कर दिये जाते हैं ज्ञानचन्द्र के हाथ से वह वस्तु निकल गई, जिस पर उन्हें गौरव था। वह गर्व, वह आत्म-बल, वह तेज जो परम्परा ने उनके हृदय में कूट-कूटकर भर दिया था, उसका कुछ अंश तो पहले ही मिट चुका था, बचा-खुचा पुत्र-शोक ने मिटा दिया। उन्हें विश्वास हो गया कि उनके अविचार का ईश्वर ने यह दण्ड दिया है। दुरवस्था, जीर्णता और मानसिक दुर्बलता सभी इस विश्वास को दृढ़ करती थीं। वह गोविन्दी को अब भी निर्दोष समझते थे। उनके प्रति एक भी कटु शब्द उनके मुँह से न निकलता था, न कोई कटु भाव उनके दिल में जगह पाता था। विधि की क्रूर-क्रीड़ा ही उनका सर्वनाश कर रही है; इसमें उन्हें लेशमात्र भी सन्देह न था।

अब यह घर उन्हें फाड़े खाता था। घर के प्राण से निकल

गये थे। अब माता किसे गोद में लेकर चाँद मामा को बुलायेगी, किसे उबटन मलेगी, किसके लिए प्रातःकाल हलुवा पकायेगी। अब सब कुछ शून्य था, मालूम होता था उनके हृदय निकाल लिये गये हैं। अपमान, कष्ट, अनाहार, इन सारी विडम्बनाओं के होते हुए भी बालक की बाल-क्रीड़ाओं में वे सब कुछ भूल जाते थे। उसके स्नेहमय लालन-पालन में ही अपना जीवन सार्थक समझते थे। अब चारो ओर अन्धकार था।

यदि ऐसे मनुष्य हैं, जिन्हें विपत्ति से उत्तेजन और साहस मिलता है, तो ऐसे मनुष्य भी हैं, जो आपत्काल में कर्तव्यहीन, पुरुषार्थहीन और उद्यमहीन हो जाते हैं। ज्ञानचंद्र शिक्षित थे, योग्य थे, यदि शहर में जाकर दौड़-धूप करते, तो उन्हें कहीं न कहीं काम मिल जाता। वेतन कम ही सही, रोटियों को तो मुहताज न रहते; किंतु अविश्वास उन्हें घर से निकलने न देता था। कहाँ जायँ, शहर में हमें कौन जानता है? अगर दो-चार परिचित प्राणी हैं भी, तो उन्हें मेरी क्यों परवा होने लगी। फिर इस दशा में जायँ कैसे? देह पर साबित कपड़ा भी नहीं। जाने के पहले गोविन्दी के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध करना आवश्यक था। उसका कोई सुभीता न था। इन्हीं चिंताओं में पड़े-पड़े उनके दिन कटते जाते थे। यहाँ तक कि उन्हें घर से बाहर निकलते भी बड़ा संकोच होता था। गोविन्दी ही पर अन्नोपार्जन का भार था। बेचारी दिन को बच्चों के कपड़े सीती, रात को दूसरों के लिए आटा पीसती। ज्ञानचन्द्र सब कुछ देखते थे और माथा ठोककर रह जाते थे।

एक दिन भोजन करते हुए ज्ञानचन्द्र ने आत्मधिक्कार के भाव से मुसकुराकर कहा—मुझ-सा निर्लज्ज पुरुष भी संसार में दूसरा न होगा, जिसे स्त्री की कमाई खाते भी मौत नहीं आती!

गोविन्दी ने भौं सिकोड़कर कहा—तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ,

मेरे सामने ऐसी बातें मत किया करो। है तो यह सब मेरे ही कारन?

ज्ञान०—तुमने पूर्व-जन्म में कोई बड़ा पाप किया था गोविन्दी, जो मुझ-जैसे निखट्टू के पाले पड़ीं। मेरे जीते ही तुम विधवा हो। धिक्कार है ऐसे जीवन को!

गोविन्दी—तुम मेरा ही ख़ून पियो; अगर फिर इस तरह की कोई बात मुँह से निकालो। तुम्हारी दासी बनकर मेरा जन्म सुफल हो गया। मैं इसे पूर्व-जन्मों की तपस्या का पुनीत फल समझती हूँ। दुःख-सुख किस पर नहीं आता। तुम्हें भगवान कुशल से रखें, यही मेरी अभिलाषा है।

ज्ञान०—भगवान् तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करें। ख़ूब चक्की पीसो।

गोविन्दी—तुम्हारी बला से चक्की पीसती हूँ।

ज्ञान०—हाँ हाँ, पीसो। मैं मना थोड़े ही करता हूँ। तुम चक्की न पीसोगी, तो यहाँ मूछों पर ताव देकर खायेगा कौन। अच्छा, आज तो दाल में घी भी है! ठीक है, अब मेरी चाँदी है, वेड़ा पार लग जायगा। इसी गाँव में बड़े-बड़े उच्च कुल की कन्याएँ हैं। अपने वस्त्राभूषण के सामने उन्हें और किसी की परवा नहीं। पति महाशय चाहे चोरी करके लायें, चाहे डाका मारकर लायें, इन्हें इसकी परवा नहीं। तुममें वह गुण नहीं है। तुम उच्च कुल की कन्या नहीं हो। वाह री दुनिया! ऐसी पवित्र देवियों का तेरे यहाँ अनादर होता है। उन्हें कुल-कलङ्किनी समझा जाता है! धन्य है तेरा व्यापार। तुमने कुछ और सुना? सोमदत्त ने मेरे असामियों को बहका दिया है कि लगान मत देना, देखें क्या करते हैं। बताओ, ज़मींदार की रक़म कैसे चुकाऊँगा?

गोविन्दी—मैं सोमदत्त से जाकर पूछती हूँ न? मना क्या

करेंगे, कोई दिल्लगी है !

ज्ञान०—नहीं गोविन्दी, तुम उस दुष्ट के पास मत जाना। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे ऊपर उसकी छाया भी पड़े। उसे खूब अत्याचार करने दो। मैं भी देख रहा हूँ कि भगवान कितने न्यायी हैं।

गोविन्दी—तुम असामियों के पास क्यों नहीं जाते ? हमारे घर न आयें, हमारा छुआ पानी न पियें, या हमारे रुपए भी मार लेंगे !

ज्ञान०—वाह, इससे सरल तो कोई काम ही नहीं है। कह देंगे—हम रुपये दे चुके। सारा गाँव उनकी तरफ हो जायगा। मैं तो अब गाँव भर का द्रोही हूँ न। आज खूब डटकर भोजन किया। अब मैं भी रईस हूँ, बिना हाथ-पैर हिलाये गुलछर्रे उड़ाता हूँ। सच कहता हूँ, तुम्हारी ओर से अब मैं निश्चिन्त हो गया। देस-बिदेस भी चला जाऊँ, तो तुम अपना निबाह कर सकती हो।

गोविन्दी—कहीं जाने का काम नहीं है।

ज्ञान०—तो यहाँ जाता ही कौन है। किसे कुत्ते ने काटा है, जो यह सेवा छोड़कर मेहनत-मजूरी करने जाय। तुम सचमुच देवी हो, गोविन्दी।

भोजन करके ज्ञानचन्द्र बाहर निकले। गोविन्दी भोजन करके कोठरी में आई तो, ज्ञानचन्द्र न थे। समझी—कहीं बाहर चले गये होंगे। आज पति की बातों से उसका चित्त कुछ प्रसन्न था। शायद अब वह नौकरी-चाकरी की खोज में कहीं जानेवाले हैं। यह आशा बँध रही थी। हाँ, उनकी व्यंगोक्तियों का भाव उसकी समझ ही में न आता था। ऐसी बातें वह कभी न करते थे। आज क्या सूझी !

कुछ कपड़े सीने थे। जाड़ों के दिन थे। गोविन्दी धूप में

बैठकर सीने लगी। थोड़ी ही देर में शाम हो गई। अभी तक ज्ञानचन्द्र नहीं आये। तेल-बत्ती का समय आया, फिर भोजन की तैयारी करने लगी। कालिन्दी थोड़ा-सा दूध दे गई थी। गोविन्दी को तो भूख न थी, अब वह एक ही बेला खाती थी। हाँ ज्ञानचन्द्र के लिए रोटियाँ सेंकनी थी। सोचा—दूध है ही, दूध-रोटी खा लेंगे।

भोजन बनाकर निकली ही थी कि सोमदत्त ने आँगन में आकर पूछा—कहा हैं ज्ञानू?

गोविन्दी—कहीं गये हैं।

सोम०—कपड़े पहनकर गये हैं?

गोविन्दी—हाँ, काली मिर्जई पहने थे।

सोम०—जूता भी पहने थे?

गोविन्दी की छाती धड़-धड़ करने लगी। बोली—हाँ, जूता तो पहने थे! क्यों पूछते हो?

सोमदत्त ने ज़ोर से हाथ मारकर कहा—हाय ज्ञानू! हाय!

गोविन्दी घबराकर बोली—क्या हुआ दादाजी? हाय! बताते क्यों नहीं? हाय!

सोम०—अभी थाने से आ रहा हूँ। वहाँ उनकी लाश मिली है। रेल के नीचे दब गये! हाय ज्ञानू! मुझ हत्यारे को क्यों न मौत आ गई!

गोविन्दी के मुँह से फिर कोई शब्द न निकला। अन्तिम 'हाय' के साथ बहुत दिनों तक तड़पता हुआ प्राण-पक्षी उड़ गया।

एक क्षण में गाँव की कितनी ही स्त्रियाँ जमा हो गईं। सब कहती थीं—देवी थी! सती थी!

प्रातःकाल दो अर्थियाँ गाँव से निकलीं। एक पर रेशमी चुँदरी का कफ़न था, दूसरी पर रेशमी शाल का। गाँव के द्विजों में से केवल सोमदत्त साथ था। शेष गाँव के नीच

जातिवाले आदमी थे। सोमदत्त ही ने दाह-क्रिया का प्रबन्ध किया था! वह रह-रहकर दोनो हाथों से अपनी छाती पीटता था, और जोर-जोर से चिल्लाता था—हाय ज्ञानू! हाय ज्ञानू!!

चोरी

हाय बचपन! तेरी याद नहीं भूलती! वह कच्चा, टूटा घर, वह पयाल का बिछौना; वह नंगे बदन, नंगे पाँव खेतों में घूमना; आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं। चमरौधे जूते पहनकर उस वक्त जितनी खुशी होती थी, अब 'फ्लैक्स' के बूटों से भी नहीं होती। गरम पनुए रस में जो मज़ा था, वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं; चबेने और कच्चे बैरों में जो रस था, वह अब अंगूर और खीरमोहन में भी नहीं मिलता।

मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गाँव में एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र आठ साल थी, हलधर (वह अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं) मुझसे दो साल जेठे थे। हम दोनो प्रातःकाल बासी रोटियाँ खा, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहाँ कोई हाज़िरी का रजिस्टर तो था नहीं, और न गैरहाज़िरी का जुर्माना ही देना पड़ा था। फिर डर किस बात का! कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की क़वायद देखते, कभी किसी भालू या बन्दर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल

जाते और गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था, उतना शायद टाइम-टेबिल को भी न था। रास्ते में शहर के एक महाजन ने एक बाग लगवाना शुरू किया था। वहाँ एक कुआँ खुद रहा था। वह भी हमारे लिए एक दिलचस्प तमाशा था। बूढ़ा माली हमें अपनी झोंपड़ी में बड़े प्रेम से बैठाता था। हम उससे झगड़-झगड़कर उसका काम करते। कहीं बाल्टी लिये पौदों को सींच रहे हैं, कहीं खुरपी से क्यारियाँ गोड़ रहे हैं, कहीं कैंची से बेलों की पत्तियाँ छाँट रहे हैं। उन कामों में कितना आनन्द था! माली बाल-प्रकृति का पण्डित था। हमसे काम लेता; पर इस तरह, मानो हमारे ऊपर कोई एहसान कर रहा है। जितना काम वह दिनभर में करता, हम घण्टेभर में निबटा देते थे। अब वह माली नहीं है; लेकिन बाग़ हरा-भरा है। उसके पास से होकर गुज़रता हूँ, तो जी चाहता है, उन पेड़ों के गले मिलकर रोऊँ, और कहूँ—प्यारे, तुम मुझे भूल गये हो; लेकिन मैं तुम्हें नहीं भूला; मेरे हृदय में तुम्हारी याद अभी तक हरी है—उतनी ही हरी, जितने तुम्हारे पत्ते। निःस्वार्थ प्रेम के तुम जीते-जागते स्वरूप हो।

कभी-कभी हम हफ्तों गैरहाज़िर रहते; पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढ़ी हुई त्योरियाँ उतर जातीं। उतनी कल्पना-शक्ति आज होती, तो ऐसा उपन्यास लिख मारता कि लोग चकित रह जाते। अब तो यह हाल है कि बहुत सिर खपाने के बाद कोई कहानी सूझती है। खैर, हमारे मौलवी साहब दरज़ी थे। मौलवीगिरी केवल शौक से करते थे। हम दोनों भाई अपने गाँव के कुरमी-कुम्हारों से उनकी खूब बड़ाई करते थे। या कहिये कि हम मौलवी साहब के सफ़री एजेंट थे। हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता, तो हम फूले न समाते। जिस दिन कोई अच्छा बहाना न

सूझता, मौलवी साहब के लिए कोई न कोई सौग़ात ले जाते। कभी सेर-आधसेर फलियाँ तोड़ लीं, तो कभी दस-पाँच ऊख; कभी जौ या गेहूँ की हरी-हरी बालें ले लीं, इन सौग़ातों को देखते ही मौलवी साहब का क्रोध शांत हो जाता। जब इन चीज़ों की फ़सल न होती, तो हम सज़ा से बचने का कोई और ही उपाय सोचते। मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक़ था। मक़तब में श्यामा, बुलबुल, दहियल, और चंडूलों के पिंजड़े लटकते रहते थे। हमें सबक़ याद हो, या न हो; पर चिड़ियों को याद हो जाते थे। हमारे साथ ही वे भी पढ़ा करती थीं। इन चिड़ियों के लिए बेसन पीसने में हम लोग खूब उत्साह दिखाते थे। मौलवी साहब सब लड़कों को पतिंगे पकड़ लाने की ताकीद करते रहते थे। इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि थी। कभी-कभी हमारी बला पतिंगों ही के सिर चली जाती थी। उनका बलिदान करके हम मौलवी साहब के रौद्र-रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे।

एक दिन सबेरे हम दोनो भाई तालाब में मुँह धोने गये, तो हलधर ने कोई सफेद-सी चीज़ मुट्ठी में लेकर दिखाई। मैंने लपककर मुट्ठी खोली, तो उसमें एक रुपया था। विस्मित होकर पूछा—यह रुपया तुम्हें कहाँ मिला?

हलधर—अम्माँ ने ताक पर रखा था; चारपाई खड़ी करके निकाल लाया।

घर में कोई संदूक या आलमारी तो थी नहीं; रुपए-पैसे एक ऊँचे ताक पर रख दिये जाते थे। एक दिन पहले चचाजी ने सन बेचा था। उसी के रुपए ज़मींदार को देने के लिए रखे हुए थे। हलधर को न जाने क्योंकर पता लग गया। जब घर के सब लोग काम-धन्धे में लग गये, तो आपने चारपाई खड़ी की, और उस पर चढ़कर एक रुपया निकाल लिया।

उस वक्त तक हमने कभी रुपया छुआ तक न था। वह रुपया देखकर आनन्द और भय की जो तरंगें दिल में उठीं, वे अभी तक याद हैं, हमारे लिए रुपया एक अलभ्य वस्तु थी। मौलवी साहब को हमारे यहाँ से सिर्फ बारह आने मिला करते थे। महीने के अन्त में चचाजी खुद जाकर पैसे दे आते थे। हमारा इतना भी विश्वास न था। वही हम आज एक रुपए के छत्रपति राजा थे। भला कौन हमारे गर्व का अनुमान कर सकता है! लेकिन मार का भय आनन्द में विघ्न डाल रहा था। रुपए अनगिनती तो थे नहीं। चोरी का खुल जाना मानी हुई बात थी। चचाजी के क्रोध का भी, मुझे तो नहीं, हलधर को प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था। यों उनसे ज्यादा सीधा-सादा आदमी दुनिया में न था। चची ने उनकी रक्षा का भार सिर पर न लिया होता, तो कोई बनिया उन्हें बाज़ार में बेच सकता था; पर जब क्रोध आ जाता, तो फिर उन्हें कुछ न सूझता। और तो और, चची भी उनके क्रोध का सामना करते डरती थीं। हम दोनो ने कई मिनट तक इन्हीं बातों पर विचार किया, और आख़िर यही निश्चय हुआ कि आई हुई लक्ष्मी को न जाने देना चाहिये। एक तो हमारे ऊपर संदेह होगा ही नहीं, और अगर हुआ भी, तो हम साफ़ इनकार कर जायँगे—कहेंगे हम रुपया लेकर क्या करते; हमारी नंगा-झोली ले लीजिये। शायद और शांत चित्त से विचार करते, तो यह निश्चय पलट जाता, और वह वीभत्स लीला न होती, जो आगे चलकर हुई; पर उस समय हममें शांति से विचार करने की क्षमता ही न थी।

मुँह-हाथ धोकर हम दोनो घर आये, और डरते-डरते अन्दर क़दम रखा। अगर कहीं इस वक्त तलाशी की नौबत आई, तो फिर भगवान् ही मालिक हैं; लेकिन सब लोग अपना-अपना काम कर रहे थे। कोई हमसे न बोला! हमने नाश्ता भी

न किया, चबेना भी न लिया ; किताब बगल में दबाई और मदरसे का रास्ता लिया।

बरसात के दिन थे। आकाश पर बादल छाये हुए थे। हम दोनो खुश-खुश मकतब चले जा रहे थे। आज काउंसिल की मिनिस्ट्री पाकर भी शायद उतना आनन्द न हो। हज़ारों मंसूबे बाँधते थे, हज़ारों हवाई किले बनाते थे। यह अवसर बड़े भाग्य से मिला था। जीवन में फिर शायद ही यह अवसर मिले। इसलिए रुपए को इस तरह खर्च करना चाहते थे कि ज्यादा से ज्यादा दिनों तक चल सके। यद्यपि उन दिनों पाँच आने सेर बहुत अच्छी मिठाई मिलती थी और शायद आध सेर मिठाई में हम दोनो अफर जाते ; लेकिन यह ख़याल हुआ कि मिठाई खायेंगे, तो रुपया आज ही ग़ायब हो जायगा। कोई सस्ती चीज़ खानी चाहिये, जिसमें मज़ा भी आये, पेट भी भरे, और पैसे भी कम खर्च हों। आखिर अमरूदों पर हमारी नज़र गई। हम दोनो राज़ी हो गये। दो पैसे के अमरूद लिये। सस्ता समय था, बड़े-बड़े बारह अमरूद मिले। हम दोनो के कुर्तों के दामन भर गये। जब हलधर ने खटकिन के हाथ में रुपया रखा, तो उसने संदेह से देखकर पूछा—रुपया कहाँ पाया, लाला ? चुरा तो नहीं लाये ।

जवाब हमारे पास तैयार था। ज्यादा नहीं, तो दो-तीन किताबें तो पढ़ ही चुके थे। विद्या का कुछ-कुछ असर हो चला था। मैंने झट से कहा—मौलवी साहब की फीस देनी है। घर में पैसे न थे, तो चचाजी ने रुपया दे दिया।

इस जवाब ने खटकिन का सन्देह दूर कर दिया। हम दोनो ने एक पुलिया पर बैठकर खूब अमरूद खाये ; मगर अब साढ़े पंद्रह आने पैसे कहाँ ले जायँ ! एक रुपया छिपा लेना तो इतना मुश्किल काम न था। पैसों का ढेर कहाँ छिपता। न कमर में

इतनी जगह थी और न जेब में इतनी गुञ्जाइश। उन्हें अपने पास रखना अपनी चोरी का ढिंढोरा पीटना था। बहुत सोचने के बाद यह निश्चय किया कि बारह आने तो मौलवी साहब को दे दिये जायँ, शेष साढ़े तीन आने की मिठाई उड़े। यह फैसला करके हम लोग मक़तब पहुँचे। आज कई दिन के बाद गये थे। मौलवी साहब ने बिगड़कर पूछा—इतने दिन कहाँ रहे?

मैंने कहा—मौलवी साहब, घर में ग़मी हो गई थी।

यह कहते ही कहते बारह आने उनके सामने रख दिये। फिर क्या पूछना था! पैसे देखते ही मौलवी साहब की बाछें खिल गईं। महीना खत्म होने में अभी कई दिन बाक़ी थे। साधारणतः महीना चढ़ जाने और बार-बार तक़ाज़े करने पर वहीं पैसे मिलते थे। अबकी इतनी जल्दी पैसे पाकर उनका खुश होना कोई अस्वाभाविक बात न थी। हमने अन्य लड़कों की ओर सगर्व नेत्रों से देखा, मानो कह रहे हों—एक तुम हो कि माँगने पर भी पैसे नहीं देते, एक हम हैं कि पेशगी देते हैं।

हम अभी सबक़ पढ़ ही रहे थे कि मालूम हुआ, आज तालाब का मेला है, दोपहर से छुट्टी हो जायगी। मौलवी साहब मेले में बुलबुल लड़ाने जायँगे। यह खबर सुनते ही हमारी खुशी का ठिकाना न रहा, बारह आने तो बैंक में जमा ही कर चुके थे; साढ़े तीन आने में मेला देखने की ठहरी। खूब बहार रहेगी। मज़े से रेवड़ियाँ खायेंगे, गोलगप्पे उड़ायेंगे, भूले पर चढ़ेंगे, और शाम को घर पहुँचेंगे; लेकिन मौलवी साहब ने एक कड़ी शर्त यह लगा दी थी कि सब लड़के छुट्टी के पहले अपना-अपना सबक़ सुना दें, जो सबक़ न सुना सकेगा, उसे छुट्टी न मिलेगी। नतीजा यह हुआ कि मुझे तो छुट्टी मिल गई; पर हलधर क़ैद कर लिये गये। और कई लड़कों ने भी सबक़ सुना दिये थे। वे सभी मेला देखने चल पड़े। मैं भी उनके साथ हो

लिया। पैसे मेरे ही पास थे; इसलिए मैंने हलधर को साथ लेने का इंतज़ार न किया। तै हो गया था कि वह छुट्टी पाते ही मेले आ जायँ, और दोनो साथ-साथ मेला देखें। मैंने वचन दिया था कि जब तक वह न आयेंगे, एक पैसा भी न खर्च करूँगा; लेकिन क्या मालूम था कि दुर्भाग्य कुछ और ही लीला रच रहा है। मुझे मेला पहुँचे एक घंटे से ज्यादा गुज़र गया; पर हलधर का कहीं पता नहीं। क्या अभी तक मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी, या रास्ता भूल गये? आँखें फाड़-फाड़कर सड़क की ओर देखता था। अकेले मेला देखने में जी भी न लगता था। यह संशय भी हो रहा था कि कहीं चोरी खुल तो नहीं गई, और चचाजी हलधर को पकड़कर घर तो नहीं ले गये। आख़िर जब शाम हो गई, तो मैंने कुछ रेवड़ियाँ खाईं; और हलधर के हिस्से के पैसे जेब में रखकर धीरे-धीरे घर चला। रास्ते में ख़याल आया, मक़तब होता चलूँ। शायद हलधर अभी वहीं हों; मगर वहाँ सन्नाटा था। हाँ, एक लड़का खेलता हुआ मिला। इसने मुझे देखते ही ज़ोर से क़हक़हा मारा और बोला—बचा घर जाओ तो, कैसी मार पड़ती है। तुम्हारे चचा आये थे। हलधर को मारते-मारते ले गये हैं। अजी ऐसा तानकर घूसा मारा कि मियाँ हलधर मुँह के बल गिर पड़े। यहाँ से घसीटते ले गये हैं। तुमने मौलवी साहब की तनख्वाह दे दी थी; वह भी ले ली। अभी से कोई बहाना सोच लो नहीं तो बेभाव की पड़ेगी।

मेरी सिट्टी-पिट्टी भूल गई, बदन का लहू सूख गया। वही हुआ जिसका मुझे शक हो रहा था। पैर मन-मन भर के हो गये। घर की ओर एक-एक क़दम चलना मुशकिल हो गया। देवी-देवताओं के जितने नाम याद थे, सभी की मानता मानी—किसी को लड्डू, किसी को पेड़े, किसी को बतासे। गाँव के पास

पहुँचा, तो गाँव के डीह का सुमिरन किया ; क्योंकि अपने हलके में डीह ही की इच्छा सर्वप्रधान होती है।

यह सब कुछ किया ; लेकिन ज्यों-ज्यों घर निकट आता, दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। घटाएँ उमड़ी आती थीं। मालूम होता था—आसमान फटकर गिरा ही चाहता है। देखता था—लोग अपने-अपने काम छोड़-छोड़ भागे जा रहे हैं, गोरू भी पूँछ उठाये घर की ओर उछलते-कूदते चले जाते थे। चिड़ियाँ अपने घोसलों की ओर उड़ी चली आती थीं ; लेकिन मैं उसी मन्द गति से चला जाता था, मानो पैरों में शक्ति ही नहीं। जी चाहता था—जोर का बुखार चढ़ आये, या कहीं चोट लग जाय ; लेकिन कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता। बुलाने से मौत भी नहीं आती, बीमारी का तो कहना ही क्या। कुछ न हुआ, और धीरे-धीरे चलने पर भी घर सामने आ ही गया। अब क्या हो? हमारे द्वार पर इमली का एक घना वृक्ष था। मैं उसी की आड़ में छिप गया कि जरा और अँधेरा हो जाय, तो चुपके से घुस जाऊँ, और अम्माँ के कमरे में चारपाई के नीचे जा बैठूँ। जब सब लोग सो जायँगे, तो अम्माँ से सारी कथा कह सुनाऊँगा। अम्माँ कभी नहीं मारतीं। जरा उनके सामने झूठ-मूठ रोऊँगा, तो वह और भी पिघल जायँगी। रात कट जाने पर फिर कौन पूछता है। सुबह तक सबका गुस्सा ठण्ढा हो जायगा। अगर ये मंसूबे पूरे हो जाते, तो इसमें सन्देह नहीं ; मैं बेदाग़ बच जाता ; लेकिन वहाँ तो विधाता को कुछ और ही मंजूर था। मुझे एक लड़के ने देख लिया, और मेरे नाम की रट लगाते हुए सीधे मेरे घर में भागा। अब मेरे लिए कोई आशा न रही। लाचार घर में दाख़िल हुआ, तो सहसा मुँह से एक चीख़ निकल गई, जैसे मार खाया हुआ कुत्ता किसी को अपनी ओर आता देखकर भय से चिल्लाने लगता है। बरोठे में पिताजी बैठे थे।

पिताजी का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ खराब हो गया था। छुट्टी लेकर घर आये हुए थे। यह तो नहीं कह सकता कि उन्हें शिकायत क्या थी; पर वह मूँग की दाल खाते थे, और सन्ध्या समय शीशे के ग्लास में एक बोतल में से कुछ उँडेल-उँडेलकर पीते थे। शायद यह किसी तजुरबेकार हकीम की बताई हुई दवा थी। दवाएँ सब बासनेवाली और कड़वी होती हैं। यह दवा भी बुरी ही थी; पर पिताजी न जाने क्यों इस दवा को खूब मजा ले-लेकर पीते थे। हम जो दवा पीते हैं; तो आँखें बन्द करके एक ही घूँट में गटक जाते हैं; पर शायद इस दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता हो। पिताजी के पास गाँव के दो-तीन और कभी-कभी चार-पाँच और रोगी भी जमा हो जाते; और घण्टों दवा पीते रहते थे; मुशकिल से खाना खाने उठते थे। इस समय भी वह दवा पी रहे थे। रोगियों की मंडली जमा थी, मुझे देखते ही पिताजी ने लाल आँखें करके पूछा—कहाँ थे अब तक?

मैंने दबी जबान से कहा—कहीं तो नहीं!

'अब चोरी की आदत सीख रहा है! बोल, तूने रुपया चुराया कि नहीं?'

मेरी जबान बन्द हो गई। सामने नंगी तलवार नाच रही थी। शब्द भी निकलते हुए डरता था।

पिताजी ने जोर से डाँटकर पूछा—बोलता क्यों नहीं; तूने रुपया चुराया कि नहीं?

मैंने जान पर खेलकर कहा—मैंने कहाँ...

मुँह से पूरी बात न निकलने पाई थी कि पिताजी विकराल रूप धारण किये, दाँत पीसते, झपटकर उठे, और हाथ उठाये मेरी ओर चले। मैं जोर से चिल्लाकर रोने लगा—ऐसा चिल्लाया कि पिताजी भी सहम गये। उनका हाथ उठा ही रह

गया। शायद समझे कि जब अभी से इसका यह हाल है, तब तमाचा पड़ जाने पर कहीं इसकी जान ही न निकल जाय। मैंने जो देखा कि मेरी हिकमत काम कर गई, तो और भी गला फाड़-फाड़कर रोने लगा। इतने में मंडली के दो-तीन आदमियों ने पिताजी को पकड़ लिया, और मेरी ओर इशारा किया, भाग जा! बच्चे बहुधा ऐसे मौके पर और भी मचल जाते हैं, और व्यर्थ मार खा जाते हैं। मैंने बुद्धिमानी से काम लिया।

लेकिन अन्दर का दृश्य इससे कहीं भयंकर था। मेरा तो खून सर्द हो गया। हलधर के दोनों हाथ एक खम्भे से बँधे थे, सारी देह धूल-धूसरित हो रही थी, और वह अभी तक सिसक रहे थे। शायद वह आँगन भर में लोटे थे। ऐसा मालूम हुआ कि सारा आँगन उनके आँसुओं से भीग गया है। चची हलधर को डाँट रही थीं, और अम्माँ बैठी मसाला पीस रही थीं। सबसे पहले मुझ पर चची की निगाह पड़ी। बोलीं—लो, वह भी आ गया। क्यों रे, रुपया तूने चुराया था कि इसने?

मैंने निश्शंक होकर कहा—हलधर ने।

अम्माँ बोलीं—अगर उसी ने चुराया था, तो तूने घर आकर किसी से कहा क्यों नहीं?

अब झूठ बोले बगैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूँ कि जब आदमी को जान का खतरा हो, तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदी थे, दो-चार घूँसे और पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैंने मार कभी न खाई थी। मेरा तो दो ही चार घूँसों में काम तमाम हो जाता। फिर हलधर ने भी तो अपने को बचाने के लिए मुझे फँसाने की चेष्टा की थी, नहीं तो चची मुझसे यह क्यों पूछतीं—रुपया तूने चुराया, या हलधर ने? किसी भी सिद्धान्त से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं, तो क्षम्य जरूर था। मैंने छूटते ही कहा—

हलधर कहते थे, किसी से बताया, तो मार ही डालूँगा।

अम्माँ—देखा, वही बात निकली न! मैं तो कहती ही थी कि बच्चा की ऐसी आदत नहीं; पैसा हो तो हाथ से छूता ही नहीं; लेकिन सब लोग मुझी को उल्लू बनाने लगे।

हल०—मैंने तुमसे कब कहा था कि बताओगे, तो मारूँगा?

मैं—वहीं तालाब के किनारे तो!

हल०—अम्माँ, बिलकुल झूठ है!

चची—झूठ नहीं, सच है। झूठा तो तू है, और तो सारा संसार सच्चा है। तेरा नाम निकल गया है न! तेरा बाप भी नौकरी करता, बाहर से रुपए कमा लाता, चार जने उसे भला आदमी कहते, तो तू भी सच्चा होता। अब तो तू ही झूठा है। जिसके भाग में मिठाई लिखी थी, उसने मिठाई खाई। तेरे भाग में तो लात खाना ही लिखा था।

यह कहते हुए चची ने हलधर को खोल दिया, और हाथ पकड़कर भीतर ले गई। मेरे विषय में स्नेह-पूर्ण आलोचना करके अम्माँ ने पाँसा पलट दिया था, नहीं तो अभी बेचारे पर न जाने कितनी मार पड़ती। मैंने अम्माँ के पास बैठकर अपनी निर्दोषिता का राग खूब अलापा। मेरी सरल-हृदया माता मुझे सत्य का अवतार समझती थीं। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि सारा अपराध हलधर का है। एक क्षण बाद मैं गुड़-चबेना लिये कोठरी से बाहर निकला! हलधर भी उसी वक्त चिउड़े खाते हुए बाहर निकले। हम दोनो साथ-साथ बाहर आये और अपनी-अपनी बीती सुनाने लगे। मेरी कथा सुखमय थी, हलधर की दुःखमय; पर अन्त दोनो का एक था—गुड़ और चबेना।

लांछन

मुंशी श्यामकिशोर के द्वार पर मुन्नू मेहतर ने झाड़ू लगाई, गुसलख़ाना धो-धाकर साफ़ किया, और तब द्वार पर आकर गृहिणी से बोला—माँजी, देख लीजिये, सब साफ़ कर दिया। आज कुछ खाने को मिल जाय सरकार !

देवी रानी ने द्वार पर आकर कहा—अभी तो तुम्हें महीना पाये दस दिन भी नहीं हुए। इतनी जल्द फिर माँगने लगे ?

मुन्नू—क्या करूँ माजी, ख़र्च नहीं चलता। अकेला आदमी, घर देखूँ कि काम करूँ !

देवी– तो ब्याह क्यों नहीं कर लेते ?

मुन्नू—रुपए माँगते हैं सरकार ! यहाँ खाने से नहीं बचता, थैली कहाँ से लाऊँ ?

देवी—अभी तो तुम जवान हो, कब तक अकेले बैठे रहोगे ?

मुन्नू—हजूर की इतनी निगाह है, तो कहीं न कहीं ठीक हो ही जायगी ; सरकार कुछ मदद करेंगी न ?

देवी—हाँ-हाँ, तुम ठीक-ठाक करो, मुझसे जो कुछ हो सकेगा, मैं भी दे दूँगी।

मुन्नू—सरकार का मिजाज बड़ा अच्छा है। हजूर इतना ख़याल करती हैं। दूसरे घरों में तो मालकिनें बात भी नहीं

पूछतीं। सरकार को अल्लाह ने जैसी सकल-सूरत दी है, वैसा ही दिल भी दिया है। अल्लाह जानता है, हजूर को देखकर भूख-प्यास जाती रहती है। बड़े-बड़े घर की औरतें देखी हैं, मुदा हजूर के तलुओं की बराबरी भी नहीं कर सकतीं।

देवी—चल झूठे! मैं ऐसी कौन बड़ी खूबसूरत हूँ।

मुन्नू—अब सरकार से क्या कहूँ। बड़ी-बड़ी खत्रानियों को देखता हूँ; मगर गोरेपन के सिवा और कोई बात नहीं। इनमें यह नमक कहाँ सरकार!

देवी—एक रुपए में तुम्हारा काम चल जायगा?

मुन्नू—भला सरकार, दो रुपए तो दे दें।

देवी—अच्छा, यह लो और जाओ।

मुन्नू—जाता हूँ सरकार! आप नाराज न हों, तो एक बात पूछूँ?

देवी—क्या पूछते हो, पूछो; मगर जल्दी, मुझे चूल्हा जलाना है।

मुन्नू—तो सरकार जायँ फिर कभी कहूँगा।

देवी—नहीं-नहीं, कहो, क्या बात है? अभी कुछ ऐसी जल्दी नहीं है।

मुन्नू—दालमण्डी में सरकार के कोई रहते हैं क्या?

देवी—नहीं, वहाँ तो कोई नातेदार नहीं है।

मुन्नू—तो कोई दोस्त होंगे। सरकार को अक्सर एक कोठे पर से उतरते देखता हूँ।

देवी—दालमण्डी तो रण्डियों का महल्ला है।

मुन्नू—हाँ सरकार, रण्डियाँ बहुत हैं वहाँ; लेकिन सरकार तो सीधे-सादे आदमी मालूम होते हैं। यहाँ रात को देर से तो नहीं आते?

देवी—नहीं, शाम होने से पहले ही आ जाते हैं, और फिर

कहीं नहीं जाते। हाँ, कभी-कभी लाइब्रेरी अलबत्ता जाते हैं।

मुन्नू—बस-बस, यही बात है हजूर। मौका मिले, तो इसारे से समझा दीजियेगा सरकार कि रात को उधर न जाया करें। आदमी का दिल कितना ही साफ हो; लेकिन देखनेवाले तो सक करने लगते हैं।

इतने ही में बाबू श्यामकिशोर आ गये। मुन्नू ने उन्हें सलाम किया, बालटी उठाई और चलता हुआ।

श्यामकिशोर ने पूछा—मुन्नू क्या कह रहा था?

देवी—कुछ नहीं, अपने दुखड़े रो रहा था। खाने को माँगता था, दो रुपए दे दिये हैं। बातचीत बड़े ढंग से करता है।

श्याम०—तुम्हें तो बातें करने का मरज़ है। और कोई नहीं, मेहतर ही सही। इस भुतने से न जाने तुम कैसे बातें करती हो!

देवी—मुझे उसकी सूरत लेकर क्या करना है। ग़रीब आदमी है। अपना दुःख सुनाने लगता है, तो कैसे न सुनूँ?

बाबू साहब ने बेले का गजरा रूमाल से निकालकर देवी के गले में डाल दिया; किन्तु देवी के मुख पर प्रसन्नता का कोई चिह्न न दिखाई दिया। तिरछी निगाहों से देखकर बोली—आप आज-कल दालमण्डी की सैर बहुत किया करते हैं?

श्याम०—कौन? मैं?

देवी—जी हाँ, तुम। मुझसे तो लाइब्रेरी का बहाना करके जाते हो, और वहाँ जलसे होते हैं!

श्याम०—बिलकुल झूठ, सोलहो आने झूठ। तुमसे कौन कहता था? यही मुन्नू?

देवी—मुन्नू ने मुझसे कुछ नहीं कहा; पर मुझे तुम्हारी टोह मिलती रहती है।

श्याम०—तुम मेरी टोह मत लिया करो। शक करने से आदमी शक्की हो जाता है, और तब बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते

हैं। भला मैं दालमण्डी क्यों जाने लगा ? तुमसे बढ़कर दालमंडी में और कौन है। मैं तो तुम्हारी इन मद भरी आँखों का आशिक हूँ। अगर अप्सरा भी सामने आ जाय, तो आँख उठाकर न देखूँ। आज शारदा कहाँ है।

देवी—नीचे खेलने चली गई है ?

श्याम०—नीचे मत जाने दिया करो। इक्के, मोटरें, बग्घियाँ दौड़ती रहती हैं। न जाने कब क्या हो जाय। आज ही अरदलीबाज़ार में एक वारदात हो गई। तीन लड़के एक साथ दब गये।

देवी—तीन लड़के !! बड़ा ग़ज़ब हो गया। किसकी मोटर थी !

श्याम०—इसका अभी तक पता नहीं चला। ईश्वर जानता है, तुम्हें यह गजरा बहुत खिल रहा है !

देवी—(मुसकिराकर) चलो, बातें न बनाओ।

(२)

तीसरे दिन मुन्नू ने देवी से कहा—सरकार, एक जगह सगाई ठीक हो रही है ; देखिये कौल से फिर न जाइयेगा। मुझे आपका बड़ा भरोसा है।

देवी—देख ली औरत ? कैसी है ?

मुन्नू—सरकार, जैसी तकदीर में है, वैसी है। घर की रोटियाँ तो मिलेंगी, नहीं तो अपने हाथों ठोकना पड़ता था। है क्या कि मिजाज की सीधी है। हमारे जात की औरतें बड़ी चंचल होती हैं हजूर ! सैकड़े पीछे एक भी पाक न मिलेगी।

देवी—मेहतर लोग अपनी औरतों को कुछ कहते नहीं ?

मुन्नू—क्या कहें हजूर ! डरते हैं कि कहीं अपने आसना से चुगली खाकर हमारी नौकरी-चाकरी न छुड़ा दें। मेहतरानियों पर बाबू साहबों की बहुत निगाह रहती है सरकार !

देवी—(हँसकर) चल झूठे ! बाबू साहबों की औरतें क्या मेहतरानियों से भी गई-गुज़री होती हैं !

मुन्नू—अब सरकार कुछ न कहलायें। हजूर को छोड़कर और तो कोई ऐसी बबुआइन नहीं देखता, जिसका कोई बखान करे। बहुत ही छोटा आदमी हूँ सरकार; पर इन बबुआइनों की तरह मेरी औरत होती, तो उससे बोलने को जी न चाहता। हजूर के चेहरे-मुहरे की कोई औरत मैंने तो नहीं देखी।

देवी—चल झूठे, इतनी खुशामद करना किससे सीखा ?

मुन्नू—खुसामद नहीं करता सरकार, सच्ची बात कहता हूँ। हजूर एक दिन खिड़की के सामने खड़ी थीं। रजा मियाँ की निगाह आप पर पड़ गई। जूते की बड़ी दूकान है उनकी। अल्लाह ने जैसा धन दिया है, वैसा ही दिल भी। आपको देखते ही आँखें नीचे कर लीं। आज बातों-बातों में हजूर की सकल-सूरत को सराहने लगे। मैंने कहा—जैसी सूरत है वैसा सरकार को अल्लाह ने दिल भी दिया है।

देवी—अच्छा, वह लाँबा-सा साँवले रंग का जवान ?

मुन्नू—हाँ हजूर, वही। मुझसे कहने लगे कि किसी तरह एक बार फिर उन्हें देख पाता; लेकिन मैंने डाँटकर कहा—खबरदार मियाँ, जो मुझसे ऐसी बातें की। वहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी।

देवी—तुमने बहुत अच्छा किया। निगोड़े की आँखें फूट जाँय; जब इधर से जाता है, खिड़की की ओर उसकी निगाह रहती है। कह देना—इधर भूलकर भी न ताके !

मुन्नू—कह दिया है हजूर ! हुकुम हो तो चलूँ। और तो कुछ साफ नहीं करना है ? सरकार के आने की बेला हो गई, मुझे देखेंगे, तो कहेंगे—यह क्या बातें कर रहा है।

देवी—ये रोटियाँ लेते जाओ। आज चूल्हे से बच जाओगे।

मुन्नू—अल्लाह हजूर को सलामत रखे। मेरा तो यही जी चाहता है कि इसी दरवाजे पर पड़ा रहूँ और एक टुकड़ा खा लिया करूँ। सच कहता हूँ, हजूर को देखकर भूख-प्यास जाती रहती है।

मुन्नू जा ही रहा था कि बाबू श्यामकिशोर ऊपर आ पहुँचे। मुन्नू की पिछली बात उनके कानों में पड़ गई थी। मुन्नू ज्योंही नीचे गया, बाबू साहब देवी से बोले—मैंने तुमसे कह दिया था कि मुन्नू को मुँह न लगाओ; पर तुमने मेरी बात न मानी। छोटे आदमी एक घर की बात दूसरे घर पहुँचा देते हैं, इन्हें कभी मुँह न लगाना चाहिये। भूख-प्यास बन्द होने की क्या बात थी?

देवी—क्या जानें, भूख-प्यास कैसी? ऐसी तो कोई बात न थी।

श्याम०—थी क्यों नहीं, मैंने साफ़ सुना?

देवी—मुझे तो खयाल नहीं आता। होगी कोई बात। मैं कौन उसकी सब बातें बैठी सुना करती हूँ।

श्याम०—तो क्या वह दीवार से बातें करता है। देखो, नीचे कोई आदमी इस खिड़की की तरफ ताकता चला जाता है। इसी महल्ले का एक मुसलमान लौंडा है। जूते की दूकान करता है तुम क्या इस खिड़की पर खड़ी रहा करती हो?

देवी—चिक तो पड़ी हुई है।

श्याम०—चिक के पास खड़े होने से बाहर का आदमी तुम्हें साफ़ देख सकता है।

देवी—यह मुझे मालूम न था। अब कभी खिड़की खोलूँगी ही नहीं।

श्याम०—हाँ, क्या फायदा? मुन्नू को अन्दर मत आने दिया करो।

देवी--गुसलखाना कौन साफ़ करेगा ?

श्याम०--खैर आये, मगर उससे तुम्हें बातें न करनी चाहियें। आज एक नया थिएटर आया है। चलो, देख आयें। सुना है, इसके ऐक्टर बहुत अच्छे हैं।

इतने में शारदा नीचे से मिठाई का एक दोना लिये दौड़ती हुई आई। देवी ने पूछा--अरी, यह मिठाई किसने दी ?

शारदा--राजा-भैया ने तो दी है। कहते थे--तुमको अच्छे-अच्छे खिलौने ला दूँगा।

श्याम०--राजा-भैया कौन है ?

शारदा--वही तो हैं, जो अभी इधर से गये हैं !

श्याम०--वही तो नहीं, जो लम्बा-सा साँवले रंग का आदमी है ?

शारदा--हाँ-हाँ वही-वही। मैं अब उनके घर रोज़ जाऊँगी।

देवी--क्या तू उसके घर गई थी ?

शारदा--वही तो गोद में उठाकर ले गये।

श्याम०--तू नीचे खेलने मत जाया कर। किसी दिन मोटर के नीचे दब जायगी। देखती नहीं, कितनी मोटरें आती रहती हैं।

शारदा--राजा-भैया कहते थे, तुम्हें मोटर पर हवा खिलाने ले चलेंगे।

श्याम०--तुम बैठी-बैठी क्या किया करती हो, जो तुमसे एक लड़की की निगरानी भी नहीं हो सकती ?

देवी--इतनी बड़ी लड़की को संदूक में बन्द करके नहीं रखा जा सकता।

श्याम०--तुम जवाब देने में तो बहुत तेज़ हो, यह मैं जानता हूँ। यह क्यों नहीं कहतीं कि बातें करने से फ़ुरसत नहीं मिलती !

देवी—बातें मैं किससे करती हूँ। यहाँ तो कोई पड़ोसिन भी नहीं?

श्याम०—मुन्नू तो हई है!

देवी—(ओठ चबाकर) मुन्नू क्या मेरा कोई सगा है, जिससे बैठी बातें किया करती हूँ! ग़रीब आदमी है, अपना दुःख रोता है, तो क्या कह दूँ।। मुझसे तो दुत्कारते नहीं बनता।

श्याम०—खैर, खाना बना लो, नौ बजे तमाशा शुरू हो हो जायगा। सात बज गये हैं।

देवी—तुम जाओ, देख आओ, मैं न जाऊँगी।

श्याम०—तुम्हीं तो महीनों से तमाशे की रट लगाए हुए थीं। अब क्या हो गया! क्या तुमने क़सम खा ली है कि यह जो बात कहें, वह कभी न मानूँगी।

देवी—जाने क्यों तुम्हारा ऐसा ख़याल है। मैं तो तुम्हारी इच्छा पाकर ही कोई काम करती हूँ। मेरे जाने से कुछ और पैसे ख़र्च हो जायँगे, और रुपए कम पड़ जायँगे, तो तुम मेरी जान खाने लगोगे, यही सोचकर मैंने कहा था। अब तुम कहते हो, तो चली चलूँगी। तमाशा देखना किसे बुरा लगता है।

(३)

नौ बजे श्यामकिशोर एक ताँगे पर बैठकर देवी और शारदा के साथ थिएटर देखने चले। सड़क पर थोड़ी ही दूर गये थे कि पीछे से एक और ताँगा आ पहुँचा। इस पर रज्जा बैठा हुआ था, और उसके बग़ल में—हाँ, उसके बगल में—बैठा था मुन्नू मेहतर, जो बाबू साहब के घर की सफ़ाई करता था। देवी ने उन दोनो को देखते ही सिर झुका लिया। उसे आश्चर्य हुआ कि रज्जा और मुन्नू में इतनी गाढ़ी मित्रता है कि रज्जा उसे ताँगे पर बिठाकर सैर कराने ले जाता है! शारदा रज्जा को देखते ही बोल उठी—बाबूजी, देखो वह राजा भैया आ रहे हैं। (ताली

बजाकर) रज़ा-भैया, इधर देखो, हम लोग तमाशा देखने जा रहे हैं।

रज़ा ने मुसकिरा दिया ; मगर बाबू साहब मारे क्रोध के तिलमिला उठे। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि ये दुष्ट केवल मेरा पीछा करने के लिए आ रहे हैं। इन दोनो में ज़रूर साँठ-गाँठ है। नहीं तो रज़ा मुन्नू को साथ क्यों लेता ? उनसे पीछा छुड़ाने के लिए उन्होंने ताँगेवाले से कहा—और तेज़ ले चलो, देर हो रही है। ताँगा तेज़ हो गया। रज़ा ने भी अपना ताँगा तेज़ किया ! बाबू साहब ने जब ताँगे को धीमा करने को कहा, तो रज़ा का ताँगा भी धीमा हो गया। आख़िर बाबू साहब ने झुँझलाकर कहा—तुम ताँगे को छावनी की ओर ले चलो, हम थिएटर देखने न जायँगे। ताँगेवाले ने उनकी ओर कुतूहल से देखा, और ताँगा फेर दिया। रज़ा का ताँगा भी फिर गया। बाबू साहब को इतना क्रोध आ रहा था कि रज़ा को ललकारूँ; पर डरते थे कि कहीं झगड़ा हो गया, तो बहुत से आदमी जमा हो जायँगे और व्यर्थ ही झेंप होगी। लहू का घूँट पीकर रह गये। अपने ही ऊपर झुँझलाने लगे कि नाहक आया। क्या जानता था कि ये दोनो शैतान सिर पर सवार हो जायँगे मुन्नू को तो कल ही निकाल दूँगा। बारे रज़ा का ताँगा कुछ दूर चलकर दूसरी तरफ़ मुड़ गया, और बाबू साहब का क्रोध कुछ शांत हुआ ; किन्तु अब थिएटर जाने का समय न था। छावनी से घर लौट आये।

देवी ने कोठे पर आकर कहा—मुफ़्त में ताँगेवाले को दो रुपए देने पड़े।

श्यामकिशोर ने उसकी ओर रक्त-शोषक दृष्टि से देखकर कहा—और मुन्नू से बातें करो और खिड़की पर खड़ी हो-होकर रज़ा को छबि दिखाओ तुम न जाने क्या करने पर तुली हुई हो !

देवी—ऐसी बातें मुँह से निकालते तुम्हें शर्म नहीं आती ? तुम मेरा व्यर्थ ही अपमान करते हो, इसका फल अच्छा न होगा। मैं किसी मर्द को तुम्हारे पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझती, उस अभागे मेहतर की क्या हक़ीक़त है। तुम मुझे इतना नीच समझते हो ?

श्याम०—नहीं, मैं तुम्हें इतना नीच नहीं समझता ; मगर बेसमझ ज़रूर समझता हूँ। तुम्हें इस बदमाश को कभी मुँह न लगाना चाहिये था। अब तो तुम्हें मालूम हो गया कि वह छटा हुआ शोहदा है, या अब भी कुछ शक है ?

देवी—मैं उसे कल ही निकाल दूँगा।

मुन्शीजी लेटे ; पर चित्त अशांत था। वह दिन भर दफ़्तर में रहते थे। क्या जान सकते थे कि उनके पीछे देवी क्या करती है। वह यह जानते थे कि देवी पतिव्रता है ; पर यह भी जानते थे कि अपनी छवि दिखाने का सुन्दरियों को मरज़ होता है। देवी ज़रूर बन-ठनकर खिड़की पर खड़ी होती है, और महल्ले के शोहदे उसको देख-देखकर मन में न जाने क्या-क्या कल्पना करते होंगे। इस व्यापार को बन्द कराना उन्हें अपने क़ाबू से बाहर मालूम होता था। शोहदे वशीकरण की कला में निपुण होते हैं। ईश्वर न करे, इन बदमाशों की निगाह किसी भले घर की बहू-बेटी पर पड़े ! इनसे कैसे पिंड छुड़ाऊँ ?

बहुत सोचने के बाद अन्त में उन्होंने वह मकान छोड़ देने का निश्चय किया। इसके सिवा उन्हें दूसरा उपाय न सूझा। देवी से बोले—कहो, तो यह घर छोड़ दूँ। इन शोहदों के बीच में रहने से आबरू बिगड़ने का भय है। देवी ने आपत्ति के भाव से कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा !

श्याम०—आख़िर तुम्हीं कोई उपाय बताओ।

देवी—मैं कौन-सा उपाय बताऊँ, और किस बात का उपाय ?

मुझे तो घर छोड़ने की कोई जरूरत नहीं मालूम होती। एक-दो नहीं, लाख-दो लाख शोहदे हों, तो क्या। कुत्तों के भूकने के भय से कोई अपना मकान छोड़ देता है!

श्याम०—कभी-कभी कुत्ते काट भी तो लेते हैं।

देवी ने इसका कोई जवाब न दिया और तर्क करने से पति की दुश्चिन्ताओं के बढ़ जाने का भ्रम था। यह शक्की तो हैं ही, न जाने उसका क्या आशय समझ बैठें।

तीसरे ही दिन श्याम बाबू ने वह मकान छोड़ दिया।

(४)

इस नये मकान में आने के एक सप्ताह पीछे एक दिन मुन्नू सिर में पट्टी बाँधे, लाठी टेकता हुआ आया, और आवाज़ दी। देवी उसकी आवाज़ पहचान गई; पर उसे दुत्कारा नहीं। जाकर केवाड़ खोल दिये। पुराने घर के समाचार जानने के लिए उसका चित्त लालायित हो रहा था। मुन्नू ने अन्दर आकर कहा—सरकार, जब से आपने वह मकान छोड़ दिया, कसम ले लिजिये, जो उधर एक बार भी गया हूँ। उस घर को देखकर रोना आने लगता है मेरा भी जी चाहता है कि इसी महल्ले में आ जाऊँ। पागलों की तरह इधर-उधर मारा फिरा करता हूँ सरकार, किसी काम में जी नहीं लगता। बस, हर घड़ी आप ही की याद आती रहती है। हजूर जितनी परवरिस करती थीं, उतनी अब कौन करेगा? यह मकान तो बहुत छोटा है।

देवी—तुम्हारे ही कारन तो वह मकान छोड़ना पड़ा।

मुन्नू—मेरे कारन! मुझसे कौन-सी ख़ता हुई सरकार?

देवी—तुम्हीं तो तांगे पर रज्ज़ा के साथ बैठे मेरे पीछे चले आ रहे थे। ऐसे आदमी पर आदमी को शक होता ही है!

मुन्नू—अरे सरकार, उस दिन की बात कुछ न पूछिये। रज्ज़ा मियाँ को एक वकील साहब से मिलने जाना था। वह

छावनी में रहते हैं। मुझे भी साथ बिठा लिया। उनका साईस कहीं गया हुआ था। मारे लिहाज के आपके ताँगे के आगे न निकालते थे। सरकार उसे शोहदा कहती हैं। उसका-सा भला आदमी महल्ले भर में नहीं है। पाँचों बखत की नमाज पढ़ता है हजूर, तीसों रोजे रखता है। घर में बीबी-बच्चे सभी मौजूद हैं। क्या मजाल कि किसी पर बदनिगाह हो।

देवी—खैर होगा, तुम्हारे सिर में पट्टी क्यों बँधी है?

मुन्नू—इसका माजरा न पूछिये हजूर। आपकी बुराई करते किसी को देखता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। दरवाजे पर जो हलवाई रहता न था, कहने लगा—मेरे कुछ पैसे बाबूजी पर आते हैं। मैंने कहा—वह ऐसे आदमी नहीं हैं कि तुम्हारे पैसे हजम कर जाते। बस, हजूर, इसी बात पर तकरार हो गई। मैं तो दूकान के नीचे नाली धो रहा था। वह ऊपर से कूदकर आया, और मुझे ढकेल दिया मैं बेखबर खड़ा था, चारो खाने चित सड़क पर गिर पड़ा। चोट तो आई; मगर मैंने भी दूकान के सामने बचा को इतनी गालियाँ सुनाईं कि याद ही करते होंगे। अब घाव अच्छा हो रहा है हजूर।

देवी—राम! राम! नाहक लड़ाई लेने गये। सीधी-सी बात तो थी। कह देते—तुम्हारे पैसे आते हैं, तो जाकर माँग लाओ। हैं तो शहर ही में, किसी दूसरे देश तो नहीं भाग गये?

मुन्नू—हजूर, आपकी बुराई सुनके नहीं रहा जाता, फिर चाहे वह अपने घर का लाट ही क्यों न हो, भिड़ पड़ूँगा। वह महाजन होगा, तो अपने घर का होगा। यहाँ कौन उसका दिया खाते हैं।

देवी—उस घर में अभी कोई आया कि नहीं?

मुन्नू—कई आदमी देखने आये हजूर, मगर जहाँ आप रह चुकी हैं, वहाँ अब दूसरा कौन रह सकता है? हम लोगों ने उन

लोगों को भड़का दिया। रज्जा मियाँ तो हजूर, उसी दिन से खाना-पीना छोड़ बैठे हैं। बिटिया को याद कर-करके रोया करते हैं। हजूर को हम गरीबों की याद काहे को आती होगी ?

देवी—याद क्यों नहीं आती ? क्या मैं आदमी नहीं हूँ। जानवर तक थान छूटने पर दो-चार दिन चारा नहीं खाते। यह पैसे लो, कुछ बाजार से लाकर खा लो। भूखे होगे।

मुन्नू—हजूर की दुआ से खाने की तंगी नहीं है। आदमी का दिल देखा जाता है हजूर, पैसों की कौन बात है। आपका दिया तो खाते ही हैं। हजूर का मिजाज ऐसा है कि आदमी बिना कौड़ी का गुलाम हो जाता है। तो अब चलूँगा हजूर, बाबूजी आते होंगे। कहेंगे—यह सैतान यहाँ फिर आ पहुँचा।

देवी—अभी उनके आने में बड़ी देर है।

मुन्नू—ओहो, एक बात तो भूला ही जाता था। रज्जा मियाँ ने बिटिया के लिए ये खिलौने दिये थे। बातों में ऐसा भूल गया कि इनकी सुध ही न रही। कहाँ है बिटिया ?

देवी—अभी तो मदरसे से नहीं आई ; मगर इतने खिलौने लाने की क्या जरूरत थी ? अरे ! रज्जा ने तो ग़ज़ब ही कर दिया। भेजना ही था, तो दो-चार आने के खिलौने भेज देते। अकेली मेम तीन-चार रुपए से कम की न होगी। कुल मिलाकर तीस-पैंतीस रुपए से कम के खिलौने नहीं हैं।

मुन्नू—क्या जानें सरकार, मैंने तो कभी खिलौने नहीं खरीदे। तीस-पैंतीस रुपए के ही होंगे, तो उनके लिए कौन बड़ी बात है ? अकेली दूकान से पचास रुपए रोज की आमदनी है हजूर !

देवी—नहीं, इनको लौटा ले जाओ। इतने खिलौने लेकर वह क्या करेगी ? मैं एक मेम रखे लेती हूँ।

मुन्नू—हजूर, रज्जा मियाँ को बड़ा रंज होगा। मुझे तो जीता

ही न छोड़ेंगे। बड़े ही मुहब्बती आदमी हैं हजूर। बीबी दो-चार दिन के लिए मैके चली जाती है, तो बेचैने हो जाते हैं।

सहसा शारदा पाठशाला से आ गई, और खिलौने देखते ही उन पर टूट पड़ी। देवी ने डाँटकर कहा—क्या करती है, क्या करती है! मेम ले ले, और सब लेकर क्या करेगी?

शारदा--मैं तो सब लूँगी। मेम को मोटर पर बैठाकर दौड़ाऊँगी। कुत्ता पीछे-पीछे दौड़ेगा। इन बरतनों में गुड़िया के खाने बनाऊँगी। कहाँ से आये हैं अम्माँ? बता दो।

देवी--कहीं से नहीं आये; मैंने देखने को मँगवाये थे। तू इनमें से कोई एक ले ले।

शारदा—मैं सब लूँगी, मेरी अम्माँ न, सब ले लीजिये। कौन लाया है अम्माँ?

देवी—मुन्नू, तुम खिलौने लेकर जाओ। एक मेम रहने दो।

शारदा—कहाँ से लाये हो मुन्नू, बता दो?

मुन्नू—तुम्हारे राजा-भैया ने तुम्हारे लिए भेजे हैं।

शारदा—राजा-भैया ने भेजे हैं। ओ हो! (नाचकर) राजा-भैया बड़े अच्छे हैं। कल अपनी सहेलियों को दिखाऊँगी। किसी के पास ऐसे खिलौने न निकलेंगे।

देवी—अच्छा मुन्नू, तुम अब जाओ। रजा मियाँ से कह देना, फिर यहाँ खिलौने न भेजें।

मुन्नू चला गया, तो देवी ने शारदा से कहा—ला बेटी, तेरे खिलौने रख दूँ। बाबूजी देखेंगे, तो बिगड़ेंगे। कहेंगे, रजा मियाँ के खिलौने क्यों लिये। तोड़-ताड़कर फेंक देंगे। भूलकर भी उनसे खिलौनों की चरचा न करना।

शारदा—हाँ अम्माँ, रख दो। बाबूजी तोड़ देंगे।

देवी—उनसे कभी मत कहना कि राजा-भैया ने खिलौने भेजे हैं, नहीं तो बाबूजी राजा भैया को मारेंगे, और तुम्हारे

ान भी काट लेंगे। कहेंगे, लड़की भिखमंगी है, सबसे खिलौने ाँगती फिरती है।

शारदा—मैं उनसे कुछ न कहूँगी अम्माँ। रख दो सब खिलौने।

इतने में बाबू श्यामकिशोर भी दफ्तर से आ गये। भौहें ढ़ी हुई थीं। आते ही आते बोले—वह शैतान मुन्नू इस मुहल्ले ं भी आने लगा! मैंने आज उसे देखा। क्या यहाँ भी आया था?

देवी ने हिचकिचाते हुए कहा—हाँ, आया तो था।

श्याम०—और तुमने आने दिया? मैंने मना न किया था क उसे कभी अंदर क़दम न रखने देना।

देवी—आकर द्वार खटकाने लगा, तो क्या करती?

श्याम०—उसके साथ वह शोहदा भी रहा होगा?

देवी—उसके साथ और कोई नहीं था।

श्याम०—तुमने आज भी न कहा होगा, यहाँ मत आया कर!

देवी—मुझे तो इसका ख़याल न रहा। और अब वह यहाँ या करने आयेगा!

श्याम०—जो करने आज आया था, वही करने फिर आयेगा। तुम मेरे मुँह में कालिख लगाने पर तुली हुई हो।

देवी ने क्रोध से ऐंठकर कहा—मुझसे तुम ऐसी ऊटपटाँग ातें मत किया करो, समझ गये! तुम्हें ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म भी नहीं आती? एक बार पहले भी तुमने कुछ ऐसी ही बातें कही थीं। आज फिर तुम वही बात कर रहे हो। अगर तीसरी बार ये शब्द मैंने सुने तो नतीजा बुरा होगा, तना कहे देती हूँ। तुमने मुझे कोई वेश्या समझ लिया है!

श्याम०—मैं नहीं चाहता कि वह मेरे घर आये।

देवी—तो मना क्यों नहीं कर देते! मैं तुम्हें रोकती हूँ!

श्याम०—तुम क्यों नहीं मना कर देतीं ?

देवी—तुम्हें कहते क्या शर्म आती है ?

श्याम०—मेरा मना करना व्यर्थ है। मेरे मना करने पर भी तुम्हारी इच्छा पाकर उसका आना-जाना होता रहेगा।

देवी ने ओंठ चबाकर कहा—अच्छा, अगर वह आता ही रहे, तो इससे क्या हानि है ? मेहतर सभी घरों में आया-जाया करते हैं।

श्याम०—अगर मैंने मुन्नू को कभी अपने द्वार पर फिर देखा, तो तुम्हारी कुशल नहीं, इतना समझाये देता हूँ।

यह कहते हुए श्यामकिशोर नीचे चले गये, और देवी स्तम्भित-सी खड़ी रह गई। तब उसका हृदय इस अपमान, लांछन और अविश्वास के आघात से पीड़ित हो उठा। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसको सबसे बड़ी चोट जिस बात से लगी, वह यह थी कि मेरे पति मुझे इतनी नीच, इतनी निर्लज्ज समझते हैं। जो काम वेश्या भी न करेगी, उसका संदेह मुझ पर कर रहे हैं।

(५)

श्यामकिशोर के आते ही शारदा अपने खिलौने उठाकर भाग गई थी कि कहीं बाबूजी तोड़ न डालें। नीचे जाकर वह सोचने लगी कि इन्हें कहाँ छिपाकर रखूँ। वह इसी सोच में खड़ी थी कि उसकी एक सहेली आँगन में आ गई। शारदा उसे अपने खिलौने दिखाने के लिए आतुर हो गई ! इस प्रलोभन को वह किसी तरह न रोक सकी। अभी तो बाबूजी ऊपर हैं, कौन इतनी जल्दी नीचे आये जाते हैं ! तब तक क्यों न सहेली को अपने खिलौने दिखा दूँ ? उसने सहेली को बुला लिया, और दोनो नये खिलौने देखने में मग्न हो गईं कि बाबू श्यामकिशोर के नीचे आने की भी उन्हें ख़बर न हुई।

श्यामकिशोर खिलौने देखते ही झपटकर शारदा के पास जा पहुँचे और पूछा—तू ने ये खिलौने कहाँ पाये ?

शारदा की घिग्घी बँध गई। मारे भय के थरथर काँपने लगी। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला।

श्यामकिशोर ने फिर गरजकर पूछा—बोलतो क्यों नहीं, तुझे किसने ये खिलौने दिये ?

शारदा रोने लगी। तब श्यामकिशोर ने उसे फुसलाकर कहा—रो मत, हम तुझे मारेंगे नहीं। तुझसे इतना ही पूछते हैं, तूने ऐसे सुन्दर खिलौने कहाँ पाये ?

इस तरह दो-चार बार दिलासा देने से शारदा को कुछ धैर्य बँधा। उसने सारी कथा कह सुनाई। हा अनर्थ ! इससे कहीं अच्छा होता कि शारदा मौन ही रहती। उसका गूँगी हो जाना भी इससे अच्छा था। देवी कोई बहाना करके बला सिर से टाल देती; पर होनहार को कौन टाल सकता है ? श्यामकिशोर के रोम-रोम से ज्वाला निकलने लगी। खिलौने वहीं छोड़ वह धम-धम करते हुए ऊपर गये और देवी के कन्धे दोनो हाथों से झँझोड़कर बोले—तुम्हें इस घर में रहना है या नहीं ? साफ़-साफ़ कह दो। देवी अभी तक खड़ी सिसकियाँ ले रही थी। यह निर्मम प्रश्न सुनकर उसके आँसू ग़ायब हो गये। किसी भारी विपत्ति की आशंका ने इस हलके-से आघात को भुला दिया, जैसे घातक की तलवार देखकर कोई प्राणी रोग-शय्या से उठकर भागे। श्यामकिशोर की ओर भयातुर नेत्रों से देखा ; पर मुँह से कुछ न बोली। उसका एक-एक रोम मौन भाषा में पूछ रहा था—इस प्रश्न का क्या मतलब है ?

श्यामकिशोर ने फिर कहा—तुम्हारी जो इच्छा हो, साफ़-साफ़ कह दो। अगर मेरे साथ रहते-रहते तुम्हारा जी ऊब गया

हो, तो तुम्हें अख़्तियार है। मैं तुम्हें क़ैद करके नहीं रखना चाहता। मेरे साथ तुम्हें छल-कपट करने की जरूरत नहीं। मैं सहर्ष तुम्हें बिदा करने को तैयार हूँ। जब तुमने मन में एक बात निश्चय कर ली, तो मैंने भी निश्चय कर लिया। तुम इस घर में अब नहीं रह सकती, रहने के योग्य नहीं हो।

देवी ने आवाज़ को सँभालकर कहा—तुम्हें आजकल क्या हो गया है, जो हर वक्त ज़हर उगलते रहते हो! अगर मुझसे जी ऊब गया है तो ज़हर दे दो, जला-जलाकर क्यों जान मारते हो? मेहतर से बातें करना तो ऐसा अपराध न था। जब उसने आकर पुकारा, तो मैंने आकर द्वार खोल दिया। अगर मैं जानती कि जरा-सी बात का बतंगड़ हो जायगा, तो उसे दूर ही से दुत-कार देती।

श्याम०—जी चाहता है, तालू से ज़बान खींच लें। बातें होने लगीं, इशारे होने लगे, तोहफ़े आने लगे। अब बाक़ी क्या रहा?

देवी—क्यों नाहक़ घाव पर नमक छिड़कते हो? एक अबला की जान लेकर कुछ पा न जाओगे!

श्याम०—मैं झूठ कहता हूँ?

देवी—हाँ झूठ कहते हो।

श्याम०—ये खिलौने कहाँ से आये?

देवी का कलेजा धक-से हो गया। काटो, तो बदन में लहू नहीं। समझ गई, इस वक्त ग्रह बिगड़े हुए हैं, सर्वनाश के सभी संयोग मिलते जाते हैं। ये निगोड़े खिलौने न जाने किस बुरी साइत में आये! मैंने लिये ही क्यों, उसी वक्त लौटा क्यों न दिये! बात बनाकर बोली—आग लगे, वही खिलौने तोहफे हो गये! बच्चों को कोई कैसे रोके, किसी की मानते हैं। कहती

रही, मत ले ; मगर न मानी, तो मैं क्या करती। हाँ यह जानती कि इन खिलौनों पर मेरी जान मारी जायगी, तो जबरदस्ती छीनकर फेंक देती।

श्याम०—इनके साथ और कौन-कौन-सी चीजें आई हैं, भला चाहती हो, तो अभी लाओ।

देवी—जो कुछ आया होगा, इसी घर ही में तो होगा। देख क्यों नहीं लेते ? इतना बड़ा घर भी तो नहीं है कि दो-चार दिन देखते लग जायँ ?

श्याम०—मुझे इतनी फुरसत नहीं है। खैरियत इसी में है कि जो चीजें आई हों, लाकर मेरे सामने रख दो। यह तो हो ही नहीं सकता कि लड़की के लिए खिलौने आयें और तुम्हारे लिए कोई सौगात न आये। तुम भरी गंगा में क़सम खाओ, तो भी मुझे विश्वास न आयेगा।

देवी—तो घर में देख क्यों नहीं लेते ?

श्यामकिशोर ने घूँसा तानकर कहा—कह दिया, मुझे फुरसत नहीं है। सीधे से सारी चीजें लाकर रख दो ; नहीं तो इसी दम गला दबाकर मार डालूंगा।

देवी—मारना हो, तो मार डालो, जो चीजें आईं ही नहीं उन्हें मैं दिखा कहाँ से दूँ।

श्यामकिशोर ने क्रोध से उन्मत्त होकर देवी को इतनी जोर से धक्का दिया कि वह चारो खाने चित्त जमीन पर गिर पड़ी। तब उसके गले पर हाथ रखकर बोले—दबा दूँ गला ! न दिखलायेगी तू उन चीजों को ?

देवी—जो अरमान हों, पूरे कर लो।

श्याम०—खून पी जाऊँगा ! तू ने समझा क्या है ?

देवी—अगर दिल की प्यास बुझती हो, तो पी जाओ।

श्याम०—फिर तो उस मेहतर से बातें न करेगी ? अगर

अब कभी मुन्नू या उस शोहदे रज़ा को इस द्वार पर देखा, तो गला काट लूँगा।

यह कहकर बाबूजी ने देवी को छोड़ दिया, और बाहर चले गये; लेकिन देवी उसी दशा में बड़ी देर तक पड़ी रही। उसके मन में इस समय पति-प्रेम, और मर्याद-रक्षा का लेश भी न था। उसका अंतःकरण प्रतिकार के लिए विकल हो रहा था। इस वक्त अगर वह सुनती कि श्यामकिशोर को किसी ने बाज़ार में जूतों से पीटा, तो कदाचित् वह खुश होती। कई दिनों तक पानी से भीगने के बाद, आज यह झोंका पाकर प्रेम की दीवार भूमि पर गिर पड़ी, और मन की रक्षा करनेवाली कोई साधना न रही। अब केवल संकोच और लोक-लाज की हलकी-सी रस्सी रह गई है, जो एक झटके में टूट सकती है।

(६)

श्यामकिशोर बाहर चले गये, तो शारदा भी अपने खिलौने लिये हुए घर से निकली। बाबूजी खिलौनों को देखकर कुछ नहीं बोले, तो अब उसे किसकी चिन्ता और किसका भय! अब वह क्यों न अपनी सहेलियों को खिलौने दिखाये। सड़क के उस पार एक हलवाई का मकान था। हलवाई की लड़की अपने द्वार पर खड़ी थी। शारदा उसे खिलौने दिखाने चली। बीच में सड़क थी, सवारी गाड़ियों और मोटरों का ताँता बँधा हुआ था। शारदा को अपनी धुन में किसी बात का ध्यान न रहा। बालोचित उत्सुकता से भरी हुई वह खिलौने लिये दौड़ी। वह क्या जानती थी, मृत्यु भी उसी तरह उसके प्राणों का खिलौना खेलने के लिए दौड़ी आ रही है। सामने से एक मोटर आती हुई दिखाई दी। दूसरी ओर से एक बग्घी आ रही थी। शारदा ने चाहा; दौड़कर उस पार निकल जाय। मोटर ने बिगुल बजाया; पर शारदा उसके सामने आ चुकी थी। ड्राइवर ने

मोटर को रोकना चाहा, शारदा ने भी बहुत ज़ोर मारा कि सामने से निकल जाय ; पर होनहार को कौन टालता ! मोटर बालिका को रौंदती हुई चली गई। सड़क पर केवल एक मांस की लोथ पड़ी रह गई। खिलौने ज्यों के त्यों थे। उनमें से एक भी न टूटा था। खिलौने रह गये, खेलनेवाला चला गया। दोनो में कौन स्थायी है और कौन अस्थायी, इसका फ़ैसला कौन करे !

चारो ओर से लोग दौड़ पड़े। अरे ! यह तो बाबूजी की लड़की है, जो ऊपरवाले मकान में रहते हैं। लोथ कौन उठाये। एक आदमी ने लपककर द्वार पर पुकारा—जी ! आपकी लड़की तो सड़क पर नहीं खेल रही थी ? ज़रा नीचे आ जाइये।

देवी ने छज्जे पर खड़े होकर सड़क की ओर देखा, शारदा की लोथ पड़ी हुई थी। चीख़ मारकर बेतहाशा नीचे दौड़ी, और सड़क पर आकर बालिका को गोद में उठा लिया। उसके पैर थर-थर काँपने लगे। इस वज्राघात ने स्तंभित कर दिया। रोना भी न आया।

महल्ले के कई आदमी पूछने लगे—बाबूजी कहाँ गये हैं ? उनको कैसे बुलाया जाय ?

देवी क्या जबाब देती। वह तो संज्ञाहीन-सी हो गई थी। लड़की की लाश को गोद में लिये, उसके रक्त से अपने वस्त्रों को भिगोती, आकाश की ओर ताक रही थी, मानो देवताओं से पूछ रही हो—क्या सारी विपत्तियाँ मुझी पर ?

अँधेरा होता जाता था ; पर बाबूजी का कहीं पता नहीं। कुछ मालूम भी नहीं, वह कहाँ गये हैं। धीरे-धीरे नौ बजे ; पर अब तक बाबूजी न लौटे। इतनी देर तक वह कभी बाहर न रहते थे। क्या आज ही उन्हें भी ग़ायब होना था। दस भी बज गये। अब देवी रोने लगी। उसे लड़की की मृत्यु का इतना दुःख

न था, जितना अपनी असमर्थता का। वह कैसे शव की दाह-क्रिया करेगी? कौन उसके साथ जायगा? क्या इतनी रात गये कोई उसके साथ चलने पर तैयार होगा? अगर कोई न गया, तो क्या उसे अकेले जाना पड़ेगा? क्या रात भर लोथ पड़ी रहेगी?

ज्यों-ज्यों सन्नाटा होता जाता था, देवी को भय होता था। वह पछता रही थी कि मैं शाम ही को क्यों न इसे लेकर चली गई।

ग्यारह बजे थे। सहसा किसी ने द्वार खोला। देवी उठकर खड़ी हो गई। समझी बाबूजी आ गये। उसका हृदय उमड़ आया और वह रोती हुई बाहर आई; पर आह! यह बाबूजी न थे, ये पुलिस के आदमी थे जो इस मामले की तहक़ीक़ात करने आये थे। पाँच बजे की घटना। तहक़ीक़ात होने लगी ग्यारह बजे। आख़िर थानेदार भी तो आदमी है, वह भी तो सन्ध्या समय घूमने-फिरने जाता ही है।

घंटे भर तक तहक़ीक़ात होती रही। देवी ने देखा, अब संकोच से काम न चलेगा। थानेदार ने उससे जो कुछ पूछा, उसका उत्तर उसने निस्संकोच भाव से दिया। ज़रा भी न शरमाई, ज़रा भी न झिझकी। थानेदार भी दंग रह गया।

जब सबके बयान लिखकर दारोग़ाजी चलने लगे, तो देवी ने कहा—आप उस मोटर का पता लगायेंगे?

दारोग़ा—अब तो शायद ही उसका पता लगे।

देवी—तो उसको कुछ सज़ा न होगी?

दारोग़ा—मजबूरी है। किसी को नम्बर भी तो मालूम नहीं।

देवी—सरकार इसका कुछ इंतज़ाम नहीं करती? ग़रीबों के बच्चे इसी तरह कुचले जाते रहेंगे?

दारोग़ा—इसका क्या इंतज़ाम हो सकता है? मोटरें तो

बन्द नहीं हो सकतीं ?

देवी—कम से कम पुलिसवालों को यह तो देखना चाहिये कि शहर में कोई बहुत तेज न चलाये ? मगर आप लोग ऐसा क्यों करने लगे। आपके अफ़सर भी तो मोटरों पर बैठते हैं। आप उनकी मोटरें रोकेंगे, तो नौकरी कैसे रहेगी !

थानेदार लज्जित होकर चला गया। जब लोग सड़क पर पहुँचे, तो एक सिपाही ने कहा—मेहरिया बड़ी टनमन दिखात है।

थानेदार—अजी, इसने तो मेरा नातक़ा बंद कर दिया। किस ग़ज़ब का हुस्न पाया है। मगर क़सम ले लो, जो मैंने एक बार भी उसकी तरफ़ निगाह की हो। ताकने की हिम्मत ही न पड़ती थी।

बाबू श्यामकिशोर बारह बजे के बाद नशे में चूर घर पहुँचे। उन्हें यह ख़बर रास्ते ही में मिल गई थी। रोते हुए घर में दाख़िल हुए। देवी भरी बैठी थी। सोच रखा था—आज चाहे जो हो जाय; पर फटकारूँगी जरूर। पर उनको रोते देखा, तो सारा गुस्सा ग़ायब हो गया। खुद भी रोने लगी। दोनों बड़ी देर तक रोते रहे। इस विपत्ति ने दोनो के हृदयों को एक दूसरे की ओर बड़े जोर से खींचा। उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि उनमें फिर पहले का-सा प्रेम जाग्रत हो गया है।

प्रातःकाल जब लोग दाह-क्रिया करके लौटे, तो श्यामकिशोर ने देवी की ओर स्नेह से देखकर करुण स्वर में कहा—तुम्हारा जी अकेले कैसे लगेगा ?

देवी—तुम दस-पाँच दिन की छुट्टी न ले सकोगे ?

श्याम०—यही मैं भी सोचता हूँ। पन्द्रह दिन की छुट्टी ले लूँ।

श्याम बाबू दफ्तर छुट्टी लेने चले गये। इस विपत्ति में भी आज देवी का हृदय जितना प्रसन्न था, उतना उधर महीनों से न हुआ था। बालिका को खोकर वह विश्वास और प्रेम पा गई

थी, और यह उसके आँसू पोछने के लिए कुछ कम न था।

आह! अभागिनी! खुश मत हो। तेरे जीवन का वह अन्तिम कांड होना अभी बाक़ी है, जिसकी आज तू कल्पना भी नहीं कर सकती।

(७)

दूसरे दिन बाबू श्यामकिशोर घर ही पर थे कि मुन्नू ने आकर सलाम किया। श्यामकिशोर ने ज़रा कड़ी आवाज़ में पूछा—क्या है जी, यह तुम क्यों बार-बार यहाँ आया करते हो?

मुन्नू बड़े दीन भाव से बोला—मालिक, कल की बात जो सुनता है, उसी को रंज होता है। मैं तो हजूर का गुलाम ठहरा। अब नौकर नहीं हूँ तो क्या, सरकार का नमक तो खा चुका हूँ। भला वह कभी हड्डियों से निकल सकता है? कभी-कभी हर-हवाल पूछने आ जाता हूँ। जब से कलवाली बात सुनी है हजूर, ऐसा कलक हो रहा है कि क्या कहूँ। कैसी प्यारी-प्यारी बच्ची थी कि देखकर दुख दूर हो जाता था। मुझे देखते ही मुन्नू-मुन्नू करके दौड़ती थी; जब गैरों का यह हाल है, तो हजूर के दिल पर जो कुछ बीत रही होगी, हजूर ही जानते होंगे।

श्याम बाबू कुछ नर्म होकर बोले—ईश्वर की मरज़ी में इन्सान का क्या चारा? मेरा तो घर ही अँधेरा हो गया। अब यहाँ रहने को जी नहीं चाहता।

मुन्नू—मालकिन तो और भी बेहाल होंगी!

श्याम—हुआ ही चाहें। मैं तो उसे शाम-सवेरे खिला लिया करता था। मा तो दिन भर साथ रहती थी। मैं तो काम-धन्धों में भूल भी जाऊँगा। वह कहाँ भूल सकती हैं। उनको तो सारी ज़िन्दगी का रोना है।

पति को मुन्नू से बातें करते सुनकर देवी ने कोठे पर से आँगन की ओर देखा। मुन्नू को देखकर उसकी आँखों में

बेअख्तियार आँसू भर आये। बोली—मुन्नू, मैं तो लुट गई!

मुन्नू—हजूर अब सबर कीजिये, रोने-धोने से क्या फायदा? यही सब अन्धेर देखकर तो कभी-कभी अल्लाह मियाँ को जालिम कहना पड़ता है। जो बेईमान हैं, दूसरों का गला काटते फिरते हैं, उनको अल्लाह मियाँ भी डरते हैं। जो सीधे और सच्चे हैं, उन्हीं पर आफत आती है।

मुन्नू देर तक देवी को दिलासा देता रहा। श्याम बाबू भी उसकी बातों का समर्थन करते जाते थे। जब वह चला गया, तो बाबू साहब ने कहा—आदमी तो कुछ बुरा नहीं मालूम होता।

देवी ने कहा—मोहब्बती आदमी है। रंज न होता तो यहाँ क्यों आता।

देवी ने समझा, इनका दिल मुन्नू की ओर से साफ़ हो गया।

(८)

पंद्रह दिन गुज़र गये। बाबू साहब फिर दफ़्तर जाने लगे। मुन्नू इसी बीच में फिर कभी न आया। अब तक तो देवी का दिन पति से बातें करने में कट जाता था; लेकिन अब उनके चले जाने पर उसे बार-बार शारदा की याद आती। प्रायः सारा दिन रोते ही कटता था। मुहल्ले की दो-चार नीच जाति की औरतें आती थीं; लेकिन देवी का उनसे मन न मिलता था, वे झूठी सहानुभूति दिखाकर देवी से कुछ ऐंठना चाहती थीं।

एक दिन कोई चार बजे मुन्नू फिर आया, और आँगन में खड़ा होकर बोला—मालकिन, मैं हूँ मुन्नू, जरा नीचे आ जाइयेगा।

देवी ने ऊपर ही से पूछा—क्या काम है? कहो तो।

मुन्नू—ज़रा आइये तो!

देवी नीचे आई, तो मुन्नू ने कहा—रजा मियाँ बाहर खड़े हैं, और हजूर से मातमपुरसी करते हैं।

देवी ने कहा—जाकर कह दो, ईश्वर की जो मरज़ी थी, वह हुई।

रज़ा दरवाजे पर खड़ा था। ये बातें उसने साफ़ सुनीं। बाहर ही से बोला—खुदा जानता है, जब यह ख़बर सुनी है, दिल के टुकड़े हुए जाते हैं। मैं ज़रा दिल्ली चला गया था। आज ही लौटकर आया हूँ अगर मेरी मौजूदगी में यह वारदात हुई होती, तो और तो क्या कर सकता; मगर मोटरवाले को बिला सज़ा कराये न छोड़ता, चाहे वह किसी राजा ही की मोटर होती। सारा शहर छान डालता। बाबू साहब चुपके होके बैठ रहे, यह भी कोई बात है! मोटर चलाकर क्या कोई किसी की जान ले लेगा! फूल-सी मासूम बच्ची को ज़ालिमों ने मार डाला। हाय! अब कौन मुझे राजा-भैया कहकर पुकारेगा? खुदा की क़सम, उसके लिए दिल्ली से टोकरी भर खिलौना ले आया हूँ। क्या जानता था कि यहाँ यह सितम हो गया। मुन्नू, देख यह ताबीज़ ले जाकर बहूजी को दे दे। इसे अपने जूड़े में बाँध लेंगी। खुदा ने चाहा, तो उन्हें किसी तरह की दहशत या खटका न रहेगा। उन्हें बुरे-बुरे ख्वाब दिखाई देते होंगे, रात को नींद उचट जाती होगी, दिल घबराया करता होगा। ये सारी शिकायतें इस ताबीज़ से दूर हो जायँगी। मैंने एक पहुँचे हुए फ़क़ीर से यह ताबीज़ लिखाया है।

इसी तरह से रज़ा और मुन्नू उस वक्त तक एक न एक बहाने से द्वार से न टले; जब तक बाबू साहब आते न दिखाई दिये। श्यामकिशोर ने उन दोनो को जाते देख लिया। ऊपर जाकर गंभीर भाव से बोले—रज़ा क्या करने आया था।

देवी—यों ही मातमपुरसी करने आया था। आज दिल्ली से आया है। यह ख़बर सुनकर दौड़ा आया था।

श्याम०—मर्द मर्दों से मातमपुरसी करते हैं या औरतों से?

देवी—तुम न मिले, तो मुझी से शोक प्रकट करके चला गया।

श्याम०—इसके यह माने हैं कि जो आदमी मुझसे मिलने आये, वह मेरे न रहने पर तुमसे मिल सकता है। इसमें कोई हरज नहीं, क्यों?

देवी—सबसे मिलने मैं थोड़े ही जा रही हूँ।

श्याम०—तो रजा क्या मेरा साला है या ससुरा?

देवी—तुम तो जरा-जरा-सी बात पर झल्लाने लगते हो।

श्याम०—यह जरा-सी बात है! एक भले घर की स्त्री एक शोहदे से बातें करे, यह जरा-सी बात है! तो बड़ी-सी बात किसे कहते हैं? यह जरा सी बात नहीं है। यह इतनी बड़ी बात है कि यदि मैं तुम्हारी गरदन घोंट दूँ, तो भी मुझे पाप न लगेगा। देखता हूँ, फिर तुमने वही रंग पकड़ा। इतनी बड़ी सजा पाकर भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलीं। अबकी क्या मुझे ले बीतना चाहती हो?

देवी सन्नाटे में आ गई। एक तो लड़की का शोक! उस पर यह अपशब्दों की बौछार और भीषण आक्षेप! उसके सिर में चक्कर-सा आ गया। बैठकर रोने लगी। इस जीवन से तो मौत कहीं अच्छी! केवल यही शब्द उसके मुँह से निकले।

बाबू साहब गरजकर बोले—यही होगा, मत घबराओ, यही होगा। तुम मरना चाहती हो, तो मुझे भी तुम्हारे अमर होने की आकांक्षा नहीं है। जितनी जल्द तुम्हारे जीवन का अन्त हो जाय, उतना ही अच्छा। कुल में कलंक तो न लगेगा!

देवी ने सिसकियाँ लेते हुए कहा—क्यों एक अबला पर इतना अन्याय करते हो? तुम्हें जरा भी दया नहीं आती!

श्याम०—मैं कहता हूँ, चुप रह!

देवी—क्यों चुप रहूँ? क्या किसी की जबान बन्द कर दोगे?

श्याम०—फिर बोले जाती है? मैं उठकर सिर तोड़ दूँगा?

देवी—क्यों सिर तोड़ दोगे, कोई ज़बरदस्ती है ?

श्याम०—अच्छा तो बुला, देखें तेरा कौन हिमायती है !

यह कहते हुए बाबू साहब झल्लाकर उठे, और देवी को कई थप्पड़ और घूँसे लगा दिये ; मगर वह न रोई, न चिल्लाई, न ज़बान से एक शब्द निकाला, केवल अर्थ-शून्य नेत्रों से पति की ओर ताकती रही, मानो यह निश्चय करना चाहती थी कि यह आदमी है या कुछ और।

जब श्यामकिशोर मार-पीटकर अलग खड़े हो गये, तो देवी ने कहा—दिल के अरमान अभी न निकले हों, तो और निकाल लो। फिर शायद यह अवसर न मिले।

श्यामकिशोर ने जवाब दिया—सिर काट लूँगा, सिर, तू है किस फेर में ?

यह कहते हुए वह नीचे चले गये, झटके के साथ किवाड़ खोले, धमाके के साथ बन्द किये, और कहीं चले गये।

अब देवी की आँखों से आँसू की नदी बहने लगी।

(६)

रात के दस बज गये ; पर श्यामकिशोर घर न लौटे। रोते-रोते देवी की आँखें सूज आईं। क्रोध में मधुर स्मृतियों का लोप हो जाता है। देवी को ऐसा ज्ञान होता था कि श्यामकिशोर को उसके साथ कभी प्रेम ही न था। हाँ, कुछ दिनों वह उसका मुँह अवश्य जोहते रहते थे ; लेकिन वह बनावटी प्रेम था। उसके यौवन का आनन्द लूटने ही के लिए उससे मीठी-मीठी प्यार की बातें की जाती थीं। उसे छाती से लगाया जाता था, उसे कलेजे पर सुलाया जाता था। वह सब दिखावा था, स्वाँग था। उसे याद ही न आता था कि कभी उससे सच्चा प्रेम किया गया। अब वह रूप नहीं रहा, वह यौवन नहीं रहा, वह नवीनता नहीं रही। फिर उसके साथ क्यों न अत्याचार किये जायँ।

उसने सोचा—कुछ नहीं! अब इनका दिल मुझसे फिर गया है, नहीं तो क्या इस ज़रा-सी बात पर यों मुझ पर टूट पड़ते। कोई न कोई लांछन लगाकर मुझसे गला छुड़ाना चाहते हैं। यही बात है तो मैं क्या इनकी रोटियों और इनकी मार खाने के लिए इस घर में पड़ी रहूँ? जब प्रेम ही नहीं रहा, तो मेरे यहाँ रहने को धिक्कार है। मैके में कुछ न सही, यह दुर्गति तो न होगी। इनकी यही इच्छा है तो यही सही। मैं भी समझ लूँगी कि विधवा हो गई।

ज्यों-ज्यों रात गुज़रती थी, देवी के प्राण सूखे जाते थे। उसे यह धड़का समाया हुआ था कि कहीं वह आकर फिर न मार-पीट शुरू कर दें। कितने क्रोध में भरे हुए यहाँ से गये। वाह री तक़दीर! अब मैं इतनी नीच हो गई कि मेहतरों से, जूतेवालों से आशनाई करने लगी। इस भले आदमी को ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म भी नहीं आती! न जाने इनके मन में ऐसी बातें कैसे आती हैं। कुछ नहीं, यह स्वभाव के नीच, दिल के मैले, स्वार्थी आदमी हैं। नीचों के साथ नीच ही बनना चाहिये। मेरी भूल थी कि इतने दिनों से इनकी घुड़कियाँ सहती रही। जहाँ इज्ज़त नहीं, मर्यादा नहीं, प्रेम नहीं, विश्वास नहीं, वहाँ रहना बेहयाई है। कुछ मैं इनके हाथ बिक तो गई ही नहीं कि यह जो चाहें करें, मारें या काटें, पड़ी सहा करूँ। सीता-जैसी पत्नियाँ होती थीं, तो राम-जैसे पति भी होते थे।

देवी को अब ऐसी शंका होने लगी, कि कहीं श्यामकिशोर आते ही आते सचमुच उसका गला न दबा दें, या छुरी न भोंक दें। वह समाचार-पत्रों में ऐसी कई हरजाइयों की खबरें पढ़ चुकी थी। शहर ही में ऐसी कई घटनाएँ हो चुकी थीं। मारे भय के वह थरथरा उठी। यहाँ रहने से प्राणों की कुशल न थी।

देवी ने कपड़ों की एक छोटी-सी बुक़ची बाँधी, और सोचने

लगी—यहाँ से कैसे निकलूँ? और फिर यहाँ से निकलकर जाऊँ कहाँ! कहीं इस वक्त मुन्नू का पता लग जाता, तो बड़ा काम निकलता। वह मुझे क्या मैके न पहुँचा देता। एक बार मैके पहुँच भर जाती। फिर तो लाला सिर पटककर रह जायँ, भूलकर भी न आऊँ। यह भी क्या याद करें। रुपए क्यों छोड़ दूँ, जिसमें यह मजे से गुलछर्रे उड़ायें? मैंने ही तो काट-कपटकर जमा किये हैं। इनकी कौन-सी ऐसी बड़ी कमाई थी। खर्च करना चाहती तो कौड़ी न बचती। पैसा-पैसा बचाती रहती थी।

देवी ने जाकर नीचे के किवाड़े बंद कर दिये। फिर संदूक खोलकर अपने सारे जेवर और रुपए निकालकर बुकची में बाँध लिये। सबके सब करेंसी नोट थे; विशेष बोझ भी न हुआ।

एकाएक किसी ने सदर दरवाजे में जोर से धक्का मारा। देवी सहम उठी। ऊपर से झाँककर देखा, श्याम बाबू थे। उसकी हिम्मत न पड़ी कि जाकर द्वार खोल दे। फिर तो बाबू साहब ने इतनी जोर से धक्के मारने शुरू किये, मानो किवाड़ ही तोड़ डालेंगे। इस तरह द्वार खुलवाना ही उनकी चित्त की दशा को साफ़ प्रकट कर रहा था। देवी शेर के मुँह में जाने का साहस न कर सकी।

आखिर श्यामकिशोर ने चिल्लाकर कहा—ओ डैम! किवाड़ खोल, ओ बजडी! किवाड़ खोल! अभी खोल।

देवी की रही-सही हिम्मत भी जाती रही। श्यामकिशोर नशे में चूर थे। होश में शायद दया आ जाती, इसलिए शराब पीकर आये हैं। किवाड़ तो न खोलूँगी चाहे तोड़ ही डालो। अब तुम मुझे इस घर में पाओगे ही नहीं, मारोगे कहाँ से। तुम्हें खूब पहचान गई।

श्यामकिशोर पन्द्रह-बीस मिनट तक शोर मचाने और किवाड़े हिलाने के बाद ऊल-जलूल बकते चले गये। दो-चार

पड़ोसियों ने फटकारें भी सुनाईं। आप भी तो पढ़े-लिखे आदमी होकर आधी रात को घर चलते हैं। नींद ही तो है, नहीं खुलती, तो क्या कीजियेगा। जाइये किसी यार-दोस्त के घर लेट रहिये, सवेरे आइयेगा।

श्यामकिशोर के जाते ही देवी ने बुक़ची उठाई और धीरे-धीरे नीचे उतरी। ज़रा देर उसने कान लगाकर आहट ली कि कहीं श्यामकिशोर खड़े तो नहीं हैं. जब विश्वास हो गया कि वह चले गये, तो उसने धीरे से द्वार खोला और बाहर निकल आई। उसे ज़रा भी क्षोभ, ज़रा भी दुःख न था। बस, केवल एक इच्छा थी कि यहाँ से बचकर भाग जाऊँ। कोई ऐसा आदमी न था, जिस पर वह भरोसा कर सके, जो इस संकट में काम आ सके। था तो बस वही मुन्नू मेहतर। अब उसी के मिलने पर उसकी सारी आशाएँ अवलंबित थीं। उसी से मिलकर वह निश्चय करेगी कि कहाँ जाय, कैसे रहे, मैके जाने का अब उसका इरादा न था। उसे भय होता था कि मैके में श्यामकिशोर से वह अपनी जान न बचा सकेगी। उसे यहाँ न पाकर वह अवश्य उसके मैके जायँगे, और उसे जबरदस्ती खींच लायेंगे। वह सारी यातनायें, सारे अपमान सहने को तैयार थी, केवल श्यामकिशोर की सूरत नहीं देखना चाहती थी। प्रेम अपमानित होकर द्वेष में बदल जाता है।

थोड़ी ही दूर पर चौराहा था, कई ताँगेवाले खड़े थे। देवी ने एक इक्का किया और उससे स्टेशन चलने को कहा।

(१०)

देवी ने रात स्टेशन पर काटी। प्रातःकाल उसने एक ताँगा किराये पर किया और परदे में बैठकर चौक जा पहुँची। अभी दुकानें न खुली थीं; लेकिन पूछने से रज़ा नियाँ का पता चल गया। उसकी दूकान पर एक लौंडा झाड़ू दे रहा था। देवी ने

उसे बुलाकर कहा—जाकर रज़ा मियाँ से कह दे कि शारदा की अम्माँ तुमसे मिलने आई हैं, अभी चलिये।

दस मिनट में रज़ा और मुन्नू आ पहुँचे।

देवी ने सजल-नेत्र होकर कहा—तुम लोगों के पीछे मुझे घर छोड़ना पड़ा। कल रात को तुम्हारा मेरे घर जाना ग़ज़ब हो गया। जो कुछ हुआ, वह फिर कहूँगी। मुझे कहीं एक घर दिला दो। घर ऐसा हो कि बाबू साहब को मेरा पता न मिले। नहीं, वह मुझे जीता न छोड़ेंगे।

रज़ा ने मुन्नू की ओर देखा, मानो कह रहा है—देखा, चाल कैसी ठीक थी! देवी से बोला—आप निशाख़ातिर रहें, ऐसा घर दिला दूँगा कि बाबू साहब के बाबा साहब को भी पता न चले! आपको किसी बात की तकलीफ़ न होगी। हम आपके पसीने की जगह ख़ून बहा देंगे। सच पूछो तो बहूजी, बाबू साहब आपके लायक़ थे ही नहीं।

मुन्नू—कहाँ की बात भैया, आप रानी होने लायक़ हैं। मैं मालकिन से कहता था कि बाबूजी को दालमंडी की हवा लग गई है; पर आप मानती ही न थीं। आज ही रात को मैंने उन्हें गुलाबजान के कोठे पर से उतरते देखा। नसे में चूर थे।

देवी—झूठी बात। उनकी यह आदत नहीं। गुस्सा उन्हें ज़रूर बहुत है, और गुस्से में आकर उन्हें नेक-बद कुछ नहीं सूझता; लेकिन निगाह के बुरे नहीं।

मुन्नू—हजूर मानती ही नहीं, तो क्या करूँ। अच्छा कभी दिखा दूँगा, तब तो मानियेगा।

रज़ा—छब्बे दिखाना पीछे, इस वक्त आपको मेरे घर पहुँचा दे। ऊपर ले जाना। जब तक मैं एक मकान देखने जाता हूँ। आपके लायक बहुत ही अच्छा है।

देवी—तुम्हारे घर में बहुत-सी औरतें होंगी?

रज़ा--कोई नहीं है बहूजी, सिर्फ एक बुढ़िया मामा है, वह आपके लिए एक कहारिन बुला देगी। आपको किसी बात की तकलीफ़ न होगी। मैं मकान देखने जा रहा हूँ।

देवी--ज़रा बाबू साहब की तरफ भी होते आना। देखना घर आये कि नहीं ?

रज़ा—बाबू साहब से तो मुझे चिढ़ हो गई है। शायद नज़र आ जायँ तो मेरी उनसे लड़ाई हो जाय। जो मर्द आप जैसी हुस्न की देवी की क़दर नहीं कर सकता, वह आदमी नहीं।

मुन्नू—बहुत ठीक कहते हो भैया। ऐसी सरीफज़ादी को न जाने किस मुँह से डाँटते हैं! मुझे इतने दिन हजूर की गुलामी करते हो गये, कभी एक बात न कही।

रज़ा मकान देखने गया, और ताँगा रज़ा के घर की तरफ़ चला।

देवी के मन में इस समय एक शंका का आभास हुआ--कहीं ये दोनो सचमुच शोहदे तो नहीं हैं ? लेकिन कैसे मालूम हो ? यह सत्य है कि देवी ने जीवन-पर्यन्त के लिए स्वामी का परित्याग किया था; पर इतनी ही देर में उसे कुछ पश्चात्ताप होने लगा था। अकेली एक घर में कैसे रहेगी, बैठी-बैठी क्या करेगी, यह कुछ उसकी समझ में न आता था। उसने दिल में कहा—क्यों न घर लौट चलूँ ? ईश्वर करे, वह अभी घर न आये हों। मुन्नू से बोली—तुम ज़रा दौड़कर देखो तो, बाबूजी घर आये कि नहीं।

मुन्नू—आप चलकर आराम से बैठें, मैं देख आता हूँ।

देवी—मैं अन्दर न जाऊँगी।

मुन्नू—खुदा की कसम खाके कहता हूँ, घर बिल्कुल खाली है। आप हम लोगों पर शक करती हैं। हम वह लोग हैं कि आपका हुक्म पायें, तो आग में कूद पड़ें।

देवी इक्के से उतरकर अंदर चली गई। चिड़िया एक बार पकड़ जाने पर भी फड़फड़ाई; किन्तु परों में लासा लगे होने के कारण उड़ न सकी, और शिकारी ने उसे अपनी झोली में रख लिया। वह अभागिनी क्या फिर कभी आकाश में उड़ेगी? क्या फिर उसे डालियों पर चहकना नसीब होगा?

(११)

श्यामकिशोर सवेरे घर लौटे, तो उनका चित्त शांत हो गया था। उन्हें शंका हो रही थी कि कदाचित् देवी घर में न होगी। द्वार के दोनों पट खुले देखे तो कलेजा सन्-से हो गया। इतने सवेरे किवाड़ों का खुला रहना अमंगल-सूचक था। एक क्षण द्वार पर खड़े होकर अन्दर की आहट ली। कोई आवाज़ न सुनाई दी। आँगन में गये, वहाँ भी सन्नाटा, ऊपर गये चारों तरफ सूना! घर काटने को दौड़ रहा था। श्यामकिशोर ने अब ज़रा सतर्क होकर देखना शुरू किया। सन्दूक़ में रुपए नदारद। गहने का सन्दूक़ भी ख़ाली। अब क्या भ्रम हो सकता था। कोई गंगा-स्नान के लिए जाता है, तो घर के रुपए नहीं उठा ले जाता। वह चली गई। अब इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं था। यह भी मालूम था कि वह कहाँ गई है। शायद इसी वक्त लपककर जाने से वह वापस भी लाई जा सकती है; लेकिन दुनिया क्या कहेगी?

श्यामकिशोर ने अब चारपाई पर बैठकर ठण्डे दिल से इस घटना की विवेचना करना शुरू की। इसमें तो उन्हें सन्देह न था कि रज़ा शोहदा है और मुन्नू उसका पिट्टू। तो आख़िर बाबूजी का कर्तव्य क्या था? उन्होंने वह पुराना मकान छोड़ दिया, देवी को बार-बार समझाया। इसके उपरांत वह क्या कर सकते थे? क्या मारना अनुचित था? अगर एक क्षण के लिए अनुचित ही मान लिया जाय, तो क्या देवी को इस तरह घर

से निकल जाना चाहिये था? कोई दूसरी स्त्री, जिसके हृदय में पहले ही से विष न भर दिया गया हो, केवल मार खाकर घर से न निकल जाती। अवश्य ही देवी का हृदय कलुषित हो गया है।

बाबू साहब ने फिर सोचा—अभी जरा देर में महरी आयेगी। वह देवी को घर में न देखकर पूछेगी, तो क्या जवाब दूँगा? दम-के-दम में सारे महल्ले में यह खबर फैल जायगी। हाय भगवन्! क्या करूँ! श्यामकिशोर के मन में इस वक्त जरा भी पश्चाताप, जरा भी दया न थी। अगर देवी किसी तरह उन्हें मिल सकती, तो वह उसकी हत्या कर डालने में जरा भी पसोपेश न करते। उसका घर से निकल जाना, चाहे आवेश के सिवा उसका और कुछ कारण न हो, उनकी निगाह में अक्षम्य था। यह अपमान वह किसी तरह न सह सकते थे। मर जाना इससे कहीं अच्छा था। क्रोध बहुधा विरक्ति का रूप धारण कर लिया करता है। श्यामकिशोर को संसार से घृणा हो गई। जब अपनी पत्नी ही दगा कर जाय, तो किससे क्या आशा की जाय! जिस स्त्री के लिए हम जीते भी हैं और मरते भी, जिसको सुखी रखने के लिए हम अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं, जब वह अपनी न हुई, तो फिर दूसरा कौन अपना हो सकता है। इस स्त्री को प्रसन्न रखने के लिए उन्होंने क्या-क्या नहीं किया। घरवालों से लड़ाई की, भाइयों से नाता तोड़ा, यहाँ तक कि वे अब उनकी सूरत भी नहीं देखना चाहते। उसकी कोई ऐसी इच्छा न थी, जो उन्होंने पूरी न की हो, उसका जरा सा सिर भी दुखता था, तो उनके हाथों के तोते उड़ जाते थे। रात की रात उसकी सेवा-शुश्रूषा में बैठे रह जाते थे। वही स्त्री आज उनसे दगा कर गई, केवल एक गुण्डे के बहकाने में आकर उनके मुँह में कालिख लगा गई। गुण्डों पर इलजाम

लगाना, तो एक प्रकार से मन को समझाना है। जिसके दिल में खोट न हो, उसे कोई क्या बहका सकता है। जब इस स्त्री ने धोखा दिया, तो फिर समझना चाहिये कि संसार में प्रेम और विश्वास का अस्तित्व ही नहीं। यह केवल भावुक प्राणियों की कल्पना-मात्र है। ऐसे संसार में रहकर दुःख और दुराशा के सिवा और क्या मिलना है। हा दुष्टा! ले, आज से तू स्वतंत्र है, जो चाहे कर, अब कोई तेरा हाथ पकड़नेवाला नहीं रहा। जिसे तू 'प्रियतम' कहते नहीं थकती थी, उसके साथ तूने यह कुटिल व्यवहार किया! चाहूँ, तो तुझे अदालत में घसीटकर इस पाप का दंड दे सकता हूँ; मगर क्या फ़ायदा! इसका फल तुझे ईश्वर देंगे।

श्यामकिशोर चुपचाप नीचे उतरे, न किसी से कुछ कहा न सुना, द्वार खुले छोड़ दिये, और गङ्गा-तट की ओर चले।

कजाकी

मेरी बाल-स्मृतियों में 'कजाकी' एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुजर गये; लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में था। कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही ज़िंदा-दिल। वह रोज़ शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात भर रहता, और सवेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। मैं दिन भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता; ज्यों ही चार बजते, व्याकुल होकर, सड़क पर आकर, खड़ा हो जाता, और थोड़ी देर में कजाकी कंधे पर बल्लम रखे, उसकी झुँझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलाई देता। वह साँवले रंग का गठीला, लम्बा जवान था। शरीर साँचे में ऐसा ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूँछें उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थीं। मुझे देखकर वह और तेज़ दौड़ने लगता, उसकी झुँझुनी और ज़ोर से बजने लगती, और मेरे हृदय में और ज़ोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता और एक क्षण में कजाकी का कन्धा मेरा

सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था। स्वर्ग के निवासियों को भी शायद वह आन्दोलित आनंद न मिलता होगा, जो मुझे कज़ाकी के विशाल कन्धों पर मिलता था। संसार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता और जब कज़ाकी मुझे कन्धे पर लिये हुए दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता, मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।

कज़ाकी डाकखाने में पहुँचता, तो पसीने से तर रहता; लेकिन आराम करने की आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता, और कभी कहानियाँ सुनाता। उसे चोरी और डाके, मार-पीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं। मैं ये कहानियाँ सुनकर विस्मय-पूर्ण आनन्द में मग्न हो जाता। उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूटकर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे। मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।

(२)

एक दिन कज़ाकी को डाक का थैला लेकर आने में देर हो गई। सूर्यास्त हो गया और वह दिखलाई न दिया। मैं खोया हुआ-सा सड़क पर दूर तक आँखें फाड़-फाड़कर देखता था; पर वह परिचित रेखा न दिखलाई पड़ती थी। कान लगाकर सुनता था; पर 'झुन-झुन' की वह आमोदमय ध्वनि न सुनाई देती थी। प्रकाश के साथ मेरी आशा भी मलिन होती जाती थी। उधर से किसी को आते देखता, तो पूछता—कज़ाकी आता है? पर या तो कोई सुनता ही न था, या केवल सिर हिला देता था।

सहसा 'झुन-झुन' की आवाज़ कानों में आई। मुझे अँधेरे में चारों ओर भूत ही भूत दिखलाई देते थे, यहाँ तक कि

माताजी के कमरे में ताक पर रखी हुई मिठाई भी, अँधेरा हो जाने के बाद, मेरे लिए त्याज्य हो जाती थी; लेकिन वह आवाज़ सुनते ही मैं उसकी तरफ़ ज़ोर से दौड़ा। हाँ, वह कज़ाकी ही था। उसे देखते ही मेरी विकलता क्रोध में बदल गई। मैं उसे मारने लगा, फिर मान करके अलग खड़ा हो गया।

कज़ाकी ने हँसकर कहा—मारोगे, तो मैं एक चीज़ लाया हूँ, वह न दूँगा।

मैंने साहस करके कहा—जाओ, मत दो, मैं लूँगा ही नहीं।

कज़ाकी—अभी दिखा दूँ, तो दौड़कर गोद में उठा लोगे।

मैंने पिघलकर कहा—अच्छा, दिखा दो।

कज़ाकी—तो आकर मेरे कन्धे पर बैठ जाओ, भाग चलूँ। आज बहुत देर हो गई। बाबूजी बिगड़ रहे होंगे।

मैंने अकड़कर कहा—पहले दिखा।

मेरी विजय हुई। अगर कज़ाकी को देर का डर न होता और वह एक मिनट भी और रुक सकता, तो शायद पासा पलट जाता। उसने कोई चीज़ दिखलाई, जिसे वह एक हाथ से छाती से चिपटाये हुए था; लम्बा मुँह था, और दो आँखें चमक रही थीं।

मैंने दौड़कर उसे कज़ाकी की गोद से ले लिया। यह हिरन का बच्चा था। आह! मेरी उस खुशी का कौन अनुमान करेगा? तब से कठिन परीक्षाएँ पास कीं, अच्छा पद भी पाया, रायबहादुर भी हुआ; पर वह खुशी फिर न हासिल हुई। मैं उसे गोद में लिये, उसके कोमल स्पर्श का आनन्द उठाता घर की ओर दौड़ा। कज़ाकी को आने में क्यों इतनी देर हुई, इसका ख़याल ही न रहा।

मैंने पूछा—यह कहाँ मिला कज़ाकी?

कज़ाकी—भैया, यहाँ से थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा जंगल

है। उसमें बहुत-से हिरन हैं। मेरा बहुत जी चाहता था कि कोई बच्चा मिल जाय, तो तुम्हें दूँ। आज यह बच्चा हिरनों के झुण्ड के साथ दिखलाई दिया? मैं झुण्ड की ओर दौड़ा, तो सब के सब भागे। यह बच्चा भी भागा; लेकिन मैंने पीछा न छोड़ा। और हिरन तो बहुत दूर निकल गये, यही पीछे रह गया। मैंने इसे पकड़ लिया। इसी से तो इतनी देर हुई।

यों बातें करते हम दोनो डाकख़ाने पहुँचे। बाबूजी ने मुझे न देखा, हिरन के बच्चे को भी न देखा, कज़ाकी ही पर उनकी निगाह पड़ी। बिगड़कर बोले—आज इतनी देर कहाँ लगाई? अब थैला लेकर आया है, उसे लेकर क्या करूँ? डाक तो चली गई। बता, तूने इतनी देर कहाँ लगाई?

कज़ाकी के मुँह से आवाज़ न निकली।

बाबूजी ने कहा—तुझे शायद अब नौकरी नहीं करनी है। नीच है न, पेट भरा तो मोटा हो गया! जब भूखों मरने लगेगा, तो आँखें खुलेंगी।

कज़ाकी चुपचाप खड़ा रहा।

बाबूजी का क्रोध और बढ़ा। बोले—अच्छा थैला रख दे और अपने घर की राह ले। सुअर, अब डाक लेके आया है! तेरा क्या बिगड़ेगा, जहाँ चाहेगा, मजूरी कर लेगा। माथे तो मेरे जायगी—जवाब तो मुझसे तलब होगा।

कजाकी ने रुआँसे होकर कहा—सरकार, अब कभी देर न होगी!

बाबूजी—आज क्यों देर की, इसका जवाब दे?

कजाकी के पास इसका कोई जवाब न था। आश्चर्य तो यह था कि मेरी ज़बान भी बन्द हो गई। बाबूजी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम बहुत करना पड़ता था, इसी से बात-बात पर झुँझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी आता ही न था। वह भी

मुझे कभी प्यार न करते थे। घर में वह केवल दो बार घंटे घंटे-भर के लिए, भोजन करने आते थे; बाकी सारे दिन दफ्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिए अफ़सरों से विनय की थी; पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ्तर ही में रहते थे। केवल माताजी उनका क्रोध शान्त करना जानती थीं; पर वह दफ्तर में कैसे आतीं। बेचारा कजाकी उसी वक्त मेरे देखते-देखते निकाल दिया गया। उसका बल्लम, चपरास और साफ़ा छीन लिया गया और उसे डाकख़ाने से निकल जाने का नादिरी हुक्म सुना दिया गया! आह! उस वक्त मेरा ऐसा जी चाहता था कि मेरे पास सोने की लंका होती, तो कजाकी को दे देता और बाबूजी को दिखा देता कि आपके निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। किसी योद्धा को अपनी तलवार पर जितना घमंड होता है, उतना ही घमंड कजाकी को अपनी चपरास पर था। जब वह चपरास खोलने लगा, तो उसके हाथ काँप रहे थे और आँखों से आँसू बह रहे थे। और इस सारे उपद्रव की जड़ वह कोमल वस्तु थी, जो मेरी गोद में मुँह छिपाये ऐसे चैन से बैठी हुई थी, मानो माता की गोद में हो। जब कजाकी चला, तो मैं भी धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे चला। मेरे घर के द्वार पर आकर कजाकी ने कहा—भैया, अब घर जाओ; साँझ हो गई।

मैं चुपचाप खड़ा अपने आँसुओं के वेग को सारी शक्ति से दबा रहा था।

कजाकी फिर बोला—भैया, मैं कहीं बाहर थोड़े ही चला जाऊँगा। फिर आऊँगा और तुम्हें कन्धे पर बैठालकर कुदाऊँगा। बाबूजी ने नौकरी ले ली है, तो क्या इतना भी न करने देंगे! तुमको छोड़कर मैं कहीं न जाऊँगा, भैया! जाकर

अम्माँ से कह दो, कज़ाकी जाता है। उसका कहा-सुना माफ़ करें।

मैं दौड़ा हुआ घर गया ; लेकिन अम्माँजी से कुछ कहने के बदले बिलख-बिलखकर रोने लगा। अम्माँजी रसोई से बाहर निकलकर पूछने लगीं—क्या हुआ बेटा ? किसने मारा ? बाबूजी ने कुछ कहा है ? अच्छा, रह तो जाओ, आज घर आते हैं, तो पूछती हूँ। जब देखो, मेरे लड़के को मारा करते हैं। चुप रहो बेटा, अब तुम उनके पास कभी मत जाना।

मैंने बड़ी मुश्किल से आवाज़ सँभालकर कहा—कज़ाकी...

अम्माँ ने समझा, कज़ाकी ने मारा है ; बोलीं—अच्छा, आने दो कज़ाकी को। देखो, खड़े-खड़े निकलवा देती हूँ। हरकारा होकर मेरे राजा बेटा को मारे ! आज ही तो साफ़ा, बल्लम, सब छिनवाये लेती हूँ। वाह !

मैंने जल्दी से कहा—नहीं, कज़ाकी ने नहीं मारा। बाबूजी ने उसे निकाल दिया ; उसका साफ़ा, बल्लम छीन लिया—चपरास भी ले ली।

अम्माँ—यह तुम्हारे बाबूजी ने बहुत बुरा किया। वह बेचारा अपने काम में इतना चौकस रहता है। फिर उसे क्यों निकाला ?

मैंने कहा—आज उसे देर हो गई थी।

यह कहकर मैंने हिरन के बच्चे को गोद से उतार दिया। घर में उसके भाग जाने का भय न था। अब तक अम्माँजी की निगाह भी उस पर न पड़ी थी। उसे फुदकते देखकर वह सहसा चौंक पड़ीं और लपककर मेरा हाथ पकड़ लिया कि कहीं वह भयंकर जीव मुझे काट न खाय ! मैं कहाँ तो फूट-फूटकर रो रहा था और कहाँ अम्माँजी को घबराहट देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ा।

अम्माँ—अरे, यह तो हिरन का बच्चा है ! कहाँ मिला ?

मैंने हिरन के बच्चे का सारा इतिहास और उसका भीषण परिणाम आदि से अन्त तक कह सुनाया—अम्माँ, यह इतना तेज भागता था कि कोई दूसरा होता, तो पकड़ ही न सकता। सन्-सन्, हवा की तरह उड़ता चला जाता था। कज़ाकी पाँच-छः घण्टे तक इसके पीछे दौड़ता रहा। तब कहीं जाकर बच्चा मिले। अम्माँजी, कज़ाकी की तरह कोई दुनिया भर में नहीं दौड़ सकता, इसी से तो देर हो गई। इसलिए बाबूजी ने बेचारे को निकाल दिया—चपरास, साफ़ा, बल्लम, सब छीन लिया। अब बेचारा क्या करेगा? भूखों मर जायगा।

अम्माँ ने पूछा—कहाँ है कज़ाकी, ज़रा उसे बुला तो लाओ।

मैंने कहा—बाहर तो खड़ा है। कहता था, अम्माँजी से मेरा कहा-सुना माफ़ करवा देना।

अब तक अम्माँजी मेरे वृत्तान्त को दिल्लगी समझ रही थीं। शायद वह समझती थीं कि बाबूजी ने कज़ाकी को डाँटा होगा; लेकिन मेरा अन्तिम वाक्य सुनकर संशय हुआ कि कहीं सचमुच तो कज़ाकी बरख़ास्त नहीं कर दिया गया। बाहर आकर 'कज़ाकी! कज़ाकी!' पुकारने लगीं; पर कज़ाकी का कहीं पता न था। मैंने बार-बार पुकारा, रो-रोकर पुकारा; लेकिन कज़ाकी वहाँ न था।

खाना तो मैंने खा लिया—बच्चे शोक में खाना नहीं छोड़ते, ख़ासकर जब रबड़ी भी सामने हो; मगर बड़ी रात तक पड़े-पड़े सोचता रहा—मेरे पास रुपए होते, तो एक लाख रुपए कज़ाकी को दे देता और कहता—बाबूजी से कभी मत बोलना। बेचारा भूखों मर जायगा! देखूँ, कल आता है कि नहीं। अब क्या करेगा आकर? मगर आने को तो कह गया है। मैं कल उसे अपने साथ खाना खिलाऊँगा।

यही हवाई क़िले बनाते-बनाते मुझे नींद आ गई।

(३)

दूसरे दिन मैं दिन भर अपने हिरन के बच्चे के सेवा-सत्कार में व्यस्त रहा। पहले उसका नामकरण-संस्कार हुआ! 'मुन्नू' नाम रखा गया। फिर मैंने उसका अपने सब हमजोलियों और सहपाठियों से परिचय कराया। दिन ही भर में वह मुझसे इतना हिल गया कि मेरे पीछे-पीछे दौड़ने लगा। इतनी ही देर में मैंने उसे अपने जवीन में एक महत्त्व-पूर्ण स्थान दे दिया। अपने भविष्य में बननेवाले विशाल भवन में उसके लिए अलग कमरा बनाने का भी निश्चय कर लिया; चारपाई, सैर करने की फिटन आदि की भी आयोजन कर ली।

लेकिन संध्या होते ही मैं सब कुछ छोड़-छाड़कर सड़क पर जा खड़ा हुआ और कजाकी की बाट जोहने लगा। जानता था, कजाकी निकाल दिया गया है, अब उसे यहाँ आने की कोई जरूरत नहीं रही। फिर भी न जाने क्यों मुझे यह आशा हो रही थी कि वह आ रहा है। एकाएक मुझे खयाल आया कि कजाकी भूखों भर रहा होगा। मैं तुरन्त घर आया। अम्माँ दिया-बत्ती कर रही थीं। मैंने चुपके से एक टोकरी में आटा निकाला, आटा हाथों में लपेटे, टोकरी से गिरते आटे की एक लकीर बनाता हुआ भागा। आकर सड़क पर खड़ा हुआ ही था कि कजाकी सामने से आता दिखलाई दिया। उसके पास बल्लम भी था, कमर में चपरास भी थी, सिर पर साफा भी बँधा हुआ था। बल्लम में डाक का थैला भी बँधा हुआ था। मैं दौड़कर उसकी कमर से चिमट गया और विस्मित होकर बोला—तुम्हें चपरास और बल्लम कहाँ से मिल गया, कजाकी?

कजाकी ने मुझे उठाकर कंधे पर बैठालते हुए कहा—वह चपरास किस काम की थी, भैया। वह तो गुलामी की चपरास थी। यह अपनी खुशी की चपरास है। पहले सरकार का नौकर

था, अब तुम्हारा नौकर हूँ।

यह कहते-कहते उसकी निगाह टोकरी पर पड़ी, जो वहीं रखी थी। बोला—यह आटा कैसा है, भैया?

मैंने सकुचाते हुए कहा—तुम्हारे ही लिए तो लाया हूँ। तुम भूखे होगे, आज क्या खाया होगा?

कज़ाकी की आँखें तो मैं न देख सका, उसके कंधे पर बैठा हुआ था; हाँ, उसकी आवाज़ से मालूम हुआ कि उसका गला भर आया है। बोला—भैया, क्या रूखी रोटियाँ खाऊँगा? दाल, नमक, घी—और तो कुछ नहीं है।

मैं अपनी भूल पर बहुत लज्जित हुआ। सच तो है, बेचारा रूखी रोटियाँ कैसे खायेगा? लेकिन नमक, दाल, घी कैसे लाऊँ? अब तो अम्माँ चौके में होंगी। आटा लेकर तो किसी तरह भाग आया था (अभी तक मुझे न मालूम था कि मेरी चोरी पकड़ ली गई; आटे की लकीर ने सुराग दे दिया है।) अब ये तीन-तीन चीज़ें कैसे लाऊँगा? अम्माँ से माँगूँगा, तो कभी न देंगी। एक-एक पैसे के लिए तो घंटों रुलाती हैं, इतनी सारी चीज़ें क्यों देने लगीं? एकाएक मुझे एक बात याद आई। मैंने अपनी किताबों के बस्ते में कई आने पैसे रख छोड़े थे। मुझे पैसे जमा करके रखने में बड़ा आनन्द आता था। मालूम नहीं, अब वह आदत क्यों बदल गई। अब भी वही हालत होती, तो शायद इतना फ़ाक़ेमस्त न रहता। बाबू जी मुझे प्यार तो कभी न करते थे; पर पैसे खूब देते थे; शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिंड छुड़ाने के लिए इसी नुस्खे को सबसे आसान समझते थे। इनकार करने में मेरे रोने और मचलने का भय था। इस बाधा को वह दूर ही से टाल देते थे। अम्माँजी का स्वभाव इससे ठीक प्रतिकूल था। उन्हें मेरे रोने और मचलने से किसी काम में बाधा पड़ने का भय न

था। आदमी लेटे-लेटे दिन भर रोना सुन सकता है; हिसाब लगाते हुए ज़ोर की आवाज़ से भी ध्यान बँट जाता है। अम्माँ मुझे प्यार तो बहुत करती थीं; पर पैसे का नाम सुनते ही उनकी त्योरियाँ बदल जाती थीं। मेरे पास किताबें न थीं; हाँ, एक बस्ता था, जिसमें डाकखाने के दो-चार फ़ार्म तह करके पुस्तक के रूप में रखे हुए थे। मैंने सोचा—दाल, नमक और घी के लिए क्या इतने पैसे काफ़ी न होंगे? मेरी तो मुट्ठी में नहीं आते। यह निश्चय करके मैंने कहा—अच्छा, मुझे उतार दो, तो मैं दाल और नमक ला दूँ; मगर रोज़ आया करोगे न।

कज़ाकी—भैया, खाने को दोगे, तो क्यों न आऊँगा?

मैंने कहा—मैं रोज़ खाने को दूँगा।

कज़ाकी बोला—तो मैं भी रोज़ आऊँगा।

मैं नीचे उतरा और दौड़कर अपनी सारी पूँजी उठा लाया। कज़ाकी को रोज़ बुलाने के लिए उस वक्त मेरे पास कोहनूर हीरा भी होता, तो उसकी भेंट करने में मुझे पसोपेश न होता।

कज़ाकी ने विस्मित होकर पूछा—ये पैसे कहाँ पाये, भैया?

मैंने गर्व से कहा—मेरे ही तो हैं।

कज़ाकी—तुम्हारी अम्माँजी तुमको मारेंगी; कहेंगी—कज़ाकी ने फुसलाकर मँगवा लिये होंगे। भैया, इन पैसों की मिठाई ले लेना और आटा मटके में रख देना। मैं भूखों नहीं मरता। मेरे दो हाथ हैं। मैं भला भूखों मर सकता हूँ?

मैंने बहुत कहा कि पैसे मेरे हैं; लेकिन कज़ाकी ने न लिये। उसने बड़ी देर तक इधर-उधर की सैर कराई, गीत सुनाये और मुझे घर पर पहुँचाकर चला गया। मेरे द्वार पर आटे की टोकरी भी रख दी।

मैंने घर में क़दम रखा ही था कि अम्माँजी ने डाँटकर कहा—क्यों रे चोर, तू आटा कहाँ ले गया था? अब चोरी करना

सीखता है ! बता किसको आटा दे आया, नहीं तो तेरी खाल उधेड़कर रख दूँगी।

मेरी नानी मर गई। अम्माँ क्रोध में सिंहिनी हो जाती थीं। सिटपिटाकर बोला—किसी को तो नहीं दिया।

अम्माँ—तूने आटा नहीं निकाला ? देख, कितना आटा सारे आँगन में बिखरा पड़ा है ?

मैं चुप खड़ा था। वह कितना ही धमकाती थीं, चुमकारती थीं; पर मेरी ज़बान न खुलती थी। आनेवाली विपत्ति के भय से प्राण सूख रहे थे। यहाँ तक कहने की हिम्मत न पड़ती थी कि बिगड़ती क्यों हो, आटा तो द्वार पर रखा हुआ है। न उठाकर लाते ही बनता था, मानो क्रिया-शक्ति ही लुप्त हो गई हो। मानो पैरों में हिलने की सामर्थ्य ही नहीं।

सहसा कज़ाकी ने पुकारा—बहूजी, आटा यह द्वार पर रखा हुआ है। भैया मुझे देने को ले गये थे।

यह सुनते ही अम्माँ द्वार की ओर चली गईं। कज़ाकी से वह परदा न करती थीं। उन्होंने कज़ाकी से कोई बात की या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन अम्माँजी ख़ाली टोकरी लिये हुए घर में आईं। फिर कोठरी में जाकर सन्दूक से कुछ निकाला और द्वार की ओर गईं मैंने देखा—उनकी मुट्ठी बन्द थी। अब मुझसे वहाँ खड़े न रहा गया।

अम्माँजी के पीछे-पीछे मैं भी गया। अम्माँ ने द्वार पर कई बार पुकारा; मगर कज़ाकी चला गया था।

मैंने बड़ी वीरता से कहा—मैं जाकर खोज लाऊँ अम्माँजी। अम्माँजी ने किवाड़े बन्द करते हुए कहा—तुम अँधेरे में कहाँ जाओगे, अभी तो यहीं खड़ा था। मैंने कहा—यहीं रहना; मैं आती हूँ। तब तक न जाने कहाँ खिसक गया। बड़ा संकोची है। आटा तो लेता ही न था। मैंने ज़बरदस्ती उसके अँगोछे में बाँध दिया।

मुझे तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। न जाने बेचारे के घर में कुछ खाने को है कि नहीं। रुपए लाई थी कि दे दूँगी; पर न-जाने कहाँ चला गया। अब तो मुझे भी साहस हुआ। मैंने अपनी चोरी की पूरी कथा कह डाली। बच्चों के साथ समझदार बच्चे बनकर मा-बाप उन पर जितना असर डाल सकते हैं, जितनी शिक्षा दे सकते हैं, उतनी बूढ़े बनकर नहीं।

अम्माँजी ने कहा—तुमने मुझसे पूछ क्यों न लिया? क्या मैं कज़ाकी को थोड़ा-सा आटा न देती?

मैंने इसका कोई उत्तर न दिया। दिल में कहा—इस वक्त तुम्हें कज़ाकी पर दया आ गई है, जो चाहे दे डालो; लेकिन मैं माँगता, तो मारने दौड़तीं। हाँ, यह सोचकर चित्त प्रसन्न हुआ कि अब कज़ाकी भूखों न मरेगा। अम्माँजी उसे रोज़ खाने को देंगी और वह रोज़ मुझे कंधे पर बिठाकर सैर करायेगा।

दूसरे दिन मैं दिन भर मुन्नू के साथ खेलता रहा। शाम को सड़क पर जाकर खड़ा हो गया। मगर अँधेरा हो गया और कज़ाकी का कहीं पता नहीं। दिये जल गये, रास्ते में सन्नाटा छा गया; पर कज़ाकी न आया।

मैं रोता हुआ घर आया। अम्माँजी ने पूछा—क्यों रोते हो बेटा? क्या कज़ाकी नहीं आया?

मैं और ज़ोर से रोने लगा। अम्माँजी ने मुझे छाती से लगा लिया, मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उनका कंठ भी गद्‌गद् हो गया है।

उन्होंने कहा—बेटा चुप हो जाओ। मैं कल किसी हरकारे को भेजकर कज़ाकी को बुलवाऊँगी।

मैं रोते ही रोते मर गया। सबेरे ज्यों ही आँख खुली, मैंने अम्माँजी से कहा—कज़ाकी को बुलवा दो।

अम्माँ ने कहा—आदमी गया है बेटा, कज़ाकी आता

होगा। मैं खुश होकर खेलने लगा। मुझे मालूम था कि अम्माँजी जो बात कहती हैं, उसे पूरा ज़रूर करती हैं। उन्होंने सबेरे ही एक हरकारे को भेज दिया था। दस बजे जब मैं मुन्नू को लिये हुए घर आया, तो मालूम हुआ कि कज़ाकी अपने घर पर नहीं मिला। वह रात को भी घर न गया था। उसकी स्त्री रो रही थी कि न जाने कहाँ चले गये। उसे भय था कि वह कहीं भाग गया है।

बालकों का हृदय कितना कोमल होता है, इसका अनुमान दूसरा नहीं कर सकता। उनमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं होते। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि कौन-सी बात उन्हें विकल कर रही है. कौन-सा काँटा उनके हृदय में खटक रहा है, क्यों बार-बार उन्हें रोना आता है, क्यों वे मन-मारे बैठे रहते हैं, खेलने में जी नहीं लगता ? मेरी भी यही दशा थी। कभी घर में आता, कभी बाहर जाता, कभी सड़क पर जा पहुँचता। आँखें कज़ाकी को ढूँढ़ रही थीं। वह कहाँ चला गया ? कहीं भाग तो नहीं गया !

तीसरे पहर को मैं खोया हुआ-सा सड़क पर खड़ा था। सहसा मैंने कज़ाकी को एक गली में देखा। हाँ, वह कज़ाकी ही था। मैं उसकी ओर चिल्लाता हुआ दौड़ा ; पर गली में उसका पता न था, न जाने क़िधर ग़ायब हो गया। मैंने गली के इस सिरे से उस सिरे तक देखा ; मगर कहीं कज़ाकी की गंध तक न मिली।

घर आकर मैंने अम्माँजी से यह बात कही। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह यह बात सुनकर बहुत चिंतित हो गईं।

इसके बाद दो-तीन दिन तक कज़ाकी न दिखलाई दिया। मैं भी अब उसे कुछ-कुछ भूलने लगा। बच्चे पहले जितना प्रेम करते हैं, बाद को उतने ही निष्ठुर भी हो जाते हैं ; जिस खिलौने पर प्राण देते हैं ; उसी को दो-चार दिन के बाद पटक-कर फोड़ भी डालते हैं।

दस-बारह दिन और बीत गये। दोपहर का समय था। बाबूजी खाना खा रहे थे। मैं मुन्नू के पैरों में पीनस की पैजनियाँ बाँध रहा था। एक औरत घूँघट निकाले हुए आई और आँगन में खड़ी हो गई। उसके कपड़े फटे हुए और मैले थे; पर गोरी, सुन्दर स्त्री थी। उसने मुझसे पूछा—भैया, बहूजी कहाँ हैं?

मैंने उसके पास जाकर उसका मुँह देखते हुए कहा—तुम कौन हो, क्या बेचती हो?

औरत—कुछ बेचती नहीं हूँ, तुम्हारे लिए ये कमलगट्टे लाई हूँ भैया। तुम्हें तो कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं न?

मैंने उसके हाथों से लटकती हुई पोटली को उत्सुक नेत्रों से देखकर पूछा—कहाँ से लाई हो? देखें।

औरत—तुम्हारे हरकारे ने भेजा है भैया।

मैंने उछलकर पूछा—कज़ाकी ने?

औरत ने सिर हिलाकर 'हाँ' कहा और पोटली खोलने लगी। इतने में अम्माँजी भी रसोई से निकल आईं। उसने अम्माँ के पैरों को स्पर्श किया। अम्माँ ने पूछा—तू कज़ाकी की घरवाली है।

औरत ने सिर झुका लिया।

अम्माँ—आजकल कज़ाकी क्या करता है।

औरत ने रोकर कहा—बहूजी, जिस दिन से आपके पास से आटा लेकर गये हैं, उसी दिन से बीमार पड़े हैं। बस, भैया-भैया किया करते हैं। भैया ही में उनका मन बसा रहता है। चौंक-चौंकर भैया! भैया! कहते हुए द्वार की ओर दौड़ते हैं। न जाने उन्हें क्या हो गया है बहूजी। एक दिन मुझसे कुछ कहा न सुना, घर से चल दिये और एक गली में छिपकर भैया को देखते रहे। जब भैया ने उन्हें देख लिया, तो भागे।

तुम्हारे पास आते हुए लजाते हैं।

मैंने कहा—हाँ हाँ, मैंने उस दिन तुमसे जो कहा था अम्माँजी !

अम्माँ—घर में कुछ खाने-पीने को है ?

औरत—हाँ बहूजी, तुम्हारे आसिरबाद से खाने-पीने का दुःख नहीं है। आज सवेरे उठे और तालाब की ओर चले गये। बहुत कहती रही, बाहर मत जाओ, हवा लग जायगी; मगर न माना। मारे कमज़ोरी के पैर काँपने लगते हैं; मगर तालाब में घुसकर ये कमलगट्टे तोड़ लाये। तब मुझसे कहा—ले जा, भैया को दे आ। उन्हें कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं। कुसल-छेम पूछती आना।

मैंने पोटली से कमलगट्टे निकाल लिये थे और मजे से चख रहा था। अम्माँ ने बहुत आँखें दिखाईं; मगर यहाँ इतना सब्र कहाँ !

अम्माँ ने कहा—कह देना सब कुशल है।

मैंने कहा—यह भी कह देना कि भैया ने बुलाया है। न जाओगे तो फिर तुमसे कभी न बोलेंगे, हाँ !

बाबूजी खाना खाकर निकल आये थे। तौलिये से हाथ-मुँह पोंछते हुए बोले—और भी कह देना कि साहब ने तुमको बहाल कर दिया है। जल्दी जाओ, नहीं तो कोई दूसरा आदमी रख लिया जायगा।

औरत ने अपना कपड़ा उठाया और चली गई। अम्माँ ने बहुत पुकारा; पर वह न रुकी। शायद अम्माँजी उसे सीधा देना चाहती थीं।

अम्माँ ने पूछा—सचमुच बहाल हो गया !

बाबूजी—और क्या झूठे ही बुला रहा हूँ। मैंने तो पाँचवें ही दिन उसकी बहाली की रिपोर्ट की थी।

अम्माँ—यह तुमने बहुत अच्छा किया।

बाबूजी—उसकी बीमारी की यही दवा है।

(४)

प्रातःकाल मैं उठा, तो क्या देखता हूँ कि कजाकी लाठी टेकता हुआ चला आ रहा है। वह बहुत दुबला हो गया था। मालूम होता था, बूढ़ा हो गया है। हरा-भरा पेड़ सूखकर ठूँठा हो गया था। मैं उसकी ओर दौड़ा और उसकी कमर से चिमट गया। कजाकी ने मेरे गाल चूमे और मुझे उठाकर कन्धे पर बैठालने की चेष्टा करने लगा; पर मैं न उठ सका। तब वह जानवरों की भाँति भूमि पर हाथों और घुटनों के बल खड़ा हो गया और मैं उसकी पीठ पर सवार होकर डाकखाने की ओर चला। मैं उस वक्त फूला न समाता था और शायद कजाकी भी मुझसे भी ज्यादा खुश था।

बाबूजी ने कहा—कजाकी, तुम बहाल हो गये। अब कभी देर न करना।

कजाकी रोता हुआ पिताजी के पैरों पर गिर पड़ा; मगर शायद मेरे भाग्य में दोनो सुख भोगना न लिखा था—मुन्नू मिला, तो कजाकी छूटा; कजाकी आया, तो मुन्नू हाथ से गया और ऐसा गया कि आज तक उसके जाने का दुःख है। मुन्नू मेरी ही थाली में खाता था। जब तक मैं खाने न बैठूँ, वह भी कुछ न खाता था। उसे भात से बहुत ही रुचि थी; लेकिन जब तक खूब घी न पड़ा हो, उसे सन्तोष न होता था। वह मेरे ही साथ सोता भी था और मेरे ही साथ उठता भी। सफ़ाई तो उसे इतनी पसन्द थी कि मल-मूत्र त्याग करने के लिए घर से बाहर मैदान में निकल जाता था, कुत्तों से उसे चिढ़ थी, कुत्तों को घर में न घुसने देता। कुत्ते को देखते ही थाली से उठ जाता और उसे दौड़ाकर घर से बाहर निकाल देता था।

कज़ाकी को डाकख़ाने में छोड़कर जब मैं खाना खाने गया, ो मुन्नू भी आ बैठा। अभी दो-चार ही कौर खाये थे कि एक ड़ा-सा झबरा कुत्ता आँगन में दिखाई दिया। मुन्नू उसे देखते ो दौड़ा। दूसरे घर में जाकर कुत्ता चूहा हो जाता है। झबरा त्ता उसे आते देखकर भागा। मुन्नू को अब लौट आना ाहिये था; मगर वह कुत्ता उसके लिए यमराज का दूत था। ुन्नू को उसे घर से निकालकर ही संतोष न हुआ। वह उसे र से बाहर मैदान में भी दौड़ाने लगा। मुन्नू को शायद ख़याल रहा कि यहाँ मेरी अमलदारी नहीं है। वह उस क्षेत्र में पहुँच या था, जहाँ झबरे का भी उतना ही अधिकार था, जितना ुन्नू का। मुन्नू कुत्तों को भगाते-भगाते कदाचित् अपने बाहुबल र घमण्ड करने लगा था। वह यह न समझता था कि घर में सकी पीठ पर घर के स्वामी का भय काम किया करता है। बरे ने इस मैदान में आते ही उलटकर मुन्नू की गरदन दबा ी। बेचारे मुन्नू के मुँह से आवाज़ तक न निकली। जब पड़ो-सियों ने शोर मचाया, तो मैं दौड़ा। देखा, तो मुन्नू मरा पड़ा है ौर झबरे का कहीं पता नहीं।

आँसुओं की होली

नामों को बिगाड़ने की प्रथा न जाने कब चली और कहाँ शुरू हुई। कोई इस संसार-व्यापी रोग का पता लगाये तो ऐतिहासिक संसार में अवश्य ही अपना नाम छोड़ जाय। पण्डितजी का नाम तो श्रीविलास था; पर मित्र लोग सिलबिल कहा करते थे। नामों का असर चरित्र पर कुछ-न-कुछ पड़ जाता है। बिचारे सिलबिल सचमुच ही सिल-बिल थे। दफ़्तर जा रहे हैं; मगर पाजामे का इज़ारबन्द नीचे लटक रहा है। सिर पर फेल्ट कैप है; पर लम्बी-सी चुटिया पीछे झाँक रही है। अचकन यों बहुत सुन्दर है। कपड़ा फेशनेबल, सिलाई अच्छी; मगर ज़रा नीची हो गई है। न जाने उन्हें त्योहारों से क्या चिढ़ थी। दिवाली गुज़र जाती; पर वह भलामानस कौड़ी हाथ में न लेता। और होली का दिन तो उनकी भीषण परीक्षा का दिन था। तीन दिन वह घर से बाहर न निकलते। घर पर भी काले कपड़े पहने बैठे रहते थे। यार लोग टोह में रहते थे कि कहीं बचा फँस जायँ; मगर घर में घुसकर तो फ़ौजदारी नहीं की जाती। एक-आध बार फँसे भी, मगर घिघिया-पुतियाकर बेदाग़ निकल गये।

लेकिन अबकी समस्या बहुत कठिन हो गई थी। शास्त्रों के अनुसार २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद उन्होंने

विवाह किया था। ब्रह्मचर्य के परिपक्व होने में जो थोड़ी-बहुत कसर रही, वह तीन वर्ष के गौने की मुद्दत पूरी कर दी। यद्यपि स्त्री से उन्हें कोई शंका न थी, वह औरतों को सिर चढ़ाने के हामी न थे। इस मामले में उन्हें अपना वही पुराना-धुराना ढङ्ग पसन्द था। बीबी को जब कसकर डाट दिया, तो उसकी मजाल है कि रङ्ग हाथ से छुये। विपत्ति यह थी कि ससुराल के लोग भी होली मनाने आनेवाले थे। पुरानी मसल है, बहन अन्दर तो भाई सिकन्दर। इन सिकन्दरों के आक्रमण से बचने का उन्हें कोई उपाय न सूझता था। मित्र लोग घर में न जा सकते थे; लेकिन सिकन्दरों को कौन रोक सकता है।

स्त्री ने आँख फाड़कर कहा—अरे भैया! क्या सचमुच रंग न घर लाओगे। यह कैसी होली है बाबा?

सिलबिल ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—बस मैंने एक बार कह दिया और बात दोहराना मुझे पसन्द नहीं। घर में रंग नहीं आयेगा और न कोई छुयेगा। मुझे कपड़ों पर लाल छींटे देखकर मतली आने लगती है। हमारे घर में ऐसी ही होली होती है।

स्त्री ने सिर झुकाकर कहा—तो न लाना रंग-सङ्ग, मुझे रङ्ग लेकर क्या करना है। जब तुम्हीं रङ्ग न छुओगे, तो मैं कैसे छू सकती हूँ। सिलबिल ने प्रसन्न होकर कहा—निस्सन्देह यही साध्वी स्त्री का धर्म है।

'लेकिन भैया तो आनेवाले हैं। वह क्यों मानेंगे?'

'उनके लिए भी मैंने एक उपाय सोच लिया है। उसे सफल करना तुम्हारा काम है। मैं बीमार बन जाऊँगा। एक चादर ओढ़कर लेट रहूँगा, तुम कहना, इन्हें ज्वर आ गया। बस चलो छुट्टी हुई।'

स्त्री ने आँखें नचाकर कहा—ऐ नौज, कैसी बातें मुँह से

निकालते हो। ज्वर जाय मुद्दई के घर, यहाँ आये तो मुँह झुलस दूँ निगोड़े का।

'तो फिर दूसरा उपाय ही क्या है ?'

'तुम ऊपरवाली छोटी कोठरी में छिप रहना, मैं कह दूँगी उन्होंने जुलाब लिया है। बाहर निकलेंगे तो हवा लग जायगी।'

पण्डितजी खिल उठे—बस-बस, यह सबसे अच्छा है।

(२)

होली का दिन है। बाहर हाहाकार मचा हुआ है। पुराने जमाने में अबीर और गुलाल के सिवा और कोई रङ्ग न खेला जाता था। अब नीले, हरे, काले, सभी रंगों का मेल हो गया है और इस सङ्गठन से बचना आदमी के लिए तो सम्भव नहीं। हाँ देवता बचें तो बचें। सिलबिल के दोनो साले मुहल्ले भर के मर्दों, औरतों, बच्चों, बूढ़ों का निशाना बने हुए थे। इन्होंने भी एक हण्डा रङ्ग घोल रखा था। सिकन्दरी हमले कर रहे थे। बाहर के दीवानख़ाने के फ़र्श, दीवारें यहाँ तक की तस्वीरें भी रङ्ग उठी थीं। घर में भी यही हाल था। मुहल्ले की ननदें भला कब मानने लगी थीं। परनाला तक रंगीन हो गया था।

बड़े साले ने पूछा—क्यों री चम्पा, क्या सचमुच उनकी तबीयत अच्छी नहीं, खाना खाने भी न आये।

चम्पा ने सिर झुकाकर कहा—हाँ भैया, रात ही से कुछ पेट में दर्द होने लगा, डाक्टर ने हवा में निकलने को मना कर दिया है।

ज़रा देर बाद छोटे साले ने कहा—क्यों जीजीजी, क्या भाई साहब नीचे नहीं आयेंगे ? ऐसी भी क्या बीमारी है ! कहो तो ऊपर जाकर देख आऊँ।

चम्पा ने उसका हाथ पकड़कर कहा—नहीं-नहीं, ऊपर मत जैयो ! वह रङ्ग-वङ्ग न खेलेंगे। डाक्टर ने हवा में निकलने को

मना कर दिया है।

दोनो भाई हाथ मलकर रह गये।

सहसा छोटे भाई को एक बात सूझी—जीजाजी के कपड़ों के साथ क्यों न होली खेलें। वे तो नहीं बीमार हैं।

बड़े भाई के मन में भी यह बात बैठ गई। बहन बेचारी अब क्या करती। सिकन्दरों ने कुञ्जियाँ उसके हाथ से ले लीं और सिलबिल के सारे कपड़े निकाल-निकालकर रंग डाले। रूमाल तक न छोड़ा। जब चम्पा ने उन कपड़ों को आँगन में अलगनी पर सूखने को डाल दिया, तो ऐसा जान पड़ा, मानो किसी रंगरेज ने ब्याह के जोड़े रँगे हों। सिलबिल ऊपर बैठे-बैठे यह तमाशा देख रहे थे; पर ज़बान न खोलते थे। छाती पर साँप-सा लोट रहा था। सारे कपड़े ख़राब हो गये, दफ्तर जाने को भी कुछ न बचा। इन दुष्टों को मेरे कपड़ों से न जाने क्या बैर था।

घर में नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन बन रहे थे। मुहल्ले की एक ब्राह्मणी के साथ चम्पा भी जुती हुई थी। दोनो भाई और कई अन्य सज्जन आँगन में भोजन करने बैठे, तो बड़े साले ने चम्पा से पूछा—कुछ उनके लिए भी खिचड़ी-विचड़ी बनाई है? पूरियाँ तो बेचारे आज खा न सकेंगे!

चम्पा ने कहा—अभी तो नहीं बनाई अब बना लूँगी।

'वाह री तेरी अक्ल। अभी तक तुझे इतनी फ़िक्र नहीं कि वह बिचारे खायेंगे क्या। तू तो इतनी लापरवा कभी न थी। जा निकाल ला जल्दी से चावल और मूँग की दाल।'

लीजिये, खिचड़ी पकने लगी। इधर मित्रों ने भोजन करना शुरू किया। सिलबिल ऊपर बैठे अपनी क़िस्मत को रो रहे थे। उन्हें इस सारी विपत्ति का एक ही कारण मालूम होता था—विवाह! चम्पा न आती, तो ये साले क्यों आते, कपड़े क्यों

खराब होते, होली के दिन मूँग की खिचड़ी क्यों खाने की मिलती ; मगर अब पछताने से क्या होता है। जितनी देर में लोगों ने भोजन किया, उतनी देर में खिचड़ी तैयार हो गई। बड़े साले ने खुद चम्पा को ऊपर भेजा कि खिचड़ी की थाली ऊपर दे आये।

सिलबिल ने थाली की ओर कुपित नेत्रों से देखकर कहा—इसे मेरे सामने से हटा ले जाव।

'क्या आज उपास ही करोगे ?'

'तुम्हारी यही इच्छा है, तो यही सही।'

मैंने क्या किया। सबेरे से जुती हुई हूँ। भैया ने खुद खिचड़ी डलवाई और मुझे यहाँ भेजा।'

'हाँ, वह तो मैं देख रहा हूँ कि मैं घर का स्वामी नहीं। सिकन्दरों ने उस पर कब्जा जमा लिया ; मगर मैं यह नहीं मान सकता कि तुम चाहती, तो और लोगों के पहले ही मेरे पास थाली न पहुँच जाती। मैं इसे पातिव्रत धर्म के विरुद्ध समझता हूँ और क्या कहूँ।'

'तुम तो देख रहे थे कि दोनो जने मेरे सिर पर सवार थे।'

'अच्छी दिल्लगी है कि और लोग तो समोसे और खस्ते उड़ायें और मुझे मूँग की खिचड़ी दी जाय। वाह रे नसीब !'

'तुम इसे दो-चार कौर खा लो, मुझे ज्यों ही अवसर मिलेगा, दूसरी थाली लाऊँगी।'

'सारे कपड़े रँगवा डाले ! अब दफ्तर कैसे जाऊँगा। यह दिल्लगी मुझे जरा भी नहीं भाती। मैं इसे बदमाशी कहता हूँ। तुमने सन्दूक की कुञ्जी क्यों दे दी, क्या मैं इतना पूछ सकता हूँ ?'

'जबरदस्ती, छीन ली। तुमने सुना नहीं। करती क्या।'

'अच्छा जो हुआ सो हुआ, यह थाली ले जाव। धर्म समझना, तो दूसरी थाली लाना, नहीं आज व्रत ही सही।'

एकाएक पैरों की आहट पाकर सिलबिल ने सामने देखा, तो दोनों साले चले आ रहे हैं। उन्हें देखते ही बिचारे ने मुँह बना लिया, चादर से शरीर ढक लिया और कराहने लगे।

बड़े साले ने कहा—कहिये, कैसी तबीयत है थोड़ी-सी खिचड़ी खा लीजिये।

सिलबिल ने मुँह बनाकर कहा—अभी तो कुछ खाने की इच्छा नहीं है।

'नहीं उपवास करना तो हानिकर होगा। खिचड़ी खा लीजिये।'

बेचारे सिलबिल ने मन में इन दोनों सैतानों को खूब कोसा और विष की भाँति खिचड़ी कण्ठ के नीचे उतारी। आज होली के दिन खिचड़ी ही भाग्य में लिखी थी! जब तक सारी खिचड़ी समाप्त न हो गई, दोनों वहाँ डटे रहे, मानो जेल के अधिकारी किसी अनशन व्रतधारी क़ैदी को भोजन करा रहे हों। बेचारे को ठूँस-ठूँस खिचड़ी खानी पड़ी। पकवानों के लिए गुञ्जायश ही न रही।

(३)

दस बजे रात को चम्पा उत्तम पदार्थों का थाल लिये पति-देव के पास पहुँची। महाशय मन ही मन झुँझला रहे थे। भाइयों के सामने मेरी परवाह कौन करता है। न जाने कहाँ से दोनों शैतान फट पड़े। दिन भर उपवास कराया और अभी तक भोजन का कहीं पता नहीं। बारे चम्पा को थाल लाते देखकर कुछ अग्नि शान्त हुई। बोले—अभी तो बहुत सबेरा है, एक-दो घण्टे बाद क्यों न आईं?

चम्पा ने सामने थाली रखकर कहा—तुम तो न हारी मानते हो न जीती। अब आख़िर ये दो मेहमान आये हुए हैं, इनका सेवा-सत्कार न करूँ, तो भी तो काम नहीं चलता। तुम्हीं को

बुरा लगेगा। कौन रोज आयेंगे।

'ईश्वर न करे कि रोज आयें, यहाँ तो एक ही दिन में बधिया बैठ गई।'

थाल की सुगन्धमय, तरबतर चीज़ देखकर सहसा पण्डितजी के मुखारविन्द पर मुस्कान की लाली दौड़ गई। एक-एक चीज खाते थे और चम्पा को सहराते थे—सच कहता हूँ चम्पा, मैंने ऐसी चीजें कभी नहीं खाई थीं। हलवाई साला क्या बनायेगा। जी चाहता है, कुछ इनाम दूँ।

'तुम मुझे बना रहे हो। क्या करूँ, जैसा बनाने आता है बना लाई।'

'नहीं जी, सच कह रहा हूँ। मेरी तो आत्मा तक तृप्त हो गई। आज मुझे ज्ञात हुआ कि भोजन का सम्बन्ध उदर से इतना नहीं, जितना आत्मा से है। बतलाओ क्या इनाम दूँ?

'जो माँगूँ वह दोगे?'

'दूँगा।—जनेऊ की क़सम खाकर कहता हूँ।

'न दो तो मेरी बात जाय।'

'कहता हूँ भाई अब कैसे कहूँ। क्या लिखा-पढ़ी कर दूँ?'

'अच्छा तो माँगती हूँ। मुझे अपने साथ होली खेलने दो।'

पण्डितजी का रंग उड़ गया। आँखें फाड़कर बोले—होली खेलने दूँ! मैं तो होली खेलता ही नहीं। कभी नहीं खेला। होली खेलना होता, तो घर में छिपकर क्यों बैठता।

'औरों के साथ मत खेलो; लेकिन मेरे साथ तो खेलना ही पड़ेगा।'

'यह मेरे नियम के विरुद्ध है। जिस चीज को अपने घर में उचित समझूँ, उसे किस न्याय से घर के बाहर अनुचित समझूँ, सोचो।'

चम्पा ने सिर नीचा करके कहा—घर में ऐसी कितनी बातें

उचित समझते हो, जो घर के बाहर करना अनुचित ही नहीं पाप है।

पण्डितजी झेंपते हुए बोले—अच्छा भाई तुम जीती मैं हारा। अब मैं तुमसे यही दान माँगता हूँ...

'पहले मेरा पुरस्कार दे दो, पीछे मुझसे दान माँगना'—यह कहते हुए चम्पा ने लोटे का रंग उठा लिया और पण्डितजी को सिर से पाँव तक नहला दिया। जब तक वह उठकर भागें, उसने मुट्ठी भर गुलाल लेकर सारे मुँह में पोत दिया।

पण्डितजी रोनी सूरत बनाकर बोले—अभी और कुछ कसर बाकी हो, तो वह भी पूरी कर लो। मैं न जानता था कि तुम मेरी आस्तीन का साँप बनोगी। अब और कुछ रंग बाकी नहीं रहा ?

चम्पा ने पति के मुख की ओर देखा, तो उस पर मनोवेदना का गहरा रंग झलक रहा था। पछताकर बोली—क्या तुम सच-मुच बुरा मान गये हो ? मैं तो समझती थी कि तुम केवल मुझे चिढ़ा रहे हो।

श्रीविलास ने काँपते हुए स्वर में कहा—नहीं चम्पा, मुझे बुरा नहीं लगा। हाँ, तुमने मुझे उस कर्तव्य की याद दिला दी, जो मैं अपनी कायरता के कारण भूला बैठा था। वह सामने जो चित्र देख रही हो, मेरे परम मित्र मनहरनाथ का है। जो अब संसार में नहीं हैं। तुमसे क्या कहूँ, कितना सरस, कितना भावुक कितना साहसी आदमी था। देश की दशा देख-देखकर उसका खून जलता रहता था। १९-२० भी कोई उम्र होती है ; पर वह उसी उम्र में अपने जीवन का मार्ग निश्चित कर चुका था। सेवा करने का अवसर पाकर वह इस तरह उसे पकड़ता था, मानो सम्पत्ति हो। जन्म का विरागी था। वासना तो उसे छू ही न गई थी। हमारे और साथी सैर-सपाटे करते थे ; पर

उसका मार्ग सबसे अलग था। सत्य के लिए प्राण देने को तैयार कहीं अन्याय देखा और भवें तन गईं, कहीं पत्रों में अत्याचार की ख़बर देखी और चेहरा तमतमा उठा। ऐसा तो मैंने आदमी ही नहीं देखा। ईश्वर ने अकाल ही बुला लिया, नहीं तो वह मनुष्यों में रत्न होता। किसी मुसीबत के मारे का उद्धार करने को अपने प्राण हथेली पर लिये फिरता था। स्त्री-जाति का इतना आदर और सम्मान कोई क्या करेगा। स्त्री उसके लिए पूजा और भक्ति की वस्तु थी। पाँच वर्ष हुए, यही होली का दिन था। मैं भंग के नशे में चूर, रङ्ग में सिर से पाँव तक नहाया हुआ उसे गाना सुनने के लिए बुलाने गया, देखा वह कपड़े पहने कहीं जाने को तैयार है। पूछा—कहाँ जा रहे हो ?

'उसने मेरा हाथ पकड़कर कहा—तुम अच्छे वक्त पर आ गये, नहीं तो मुझे जाना पड़ता। एक अनाथ बुढ़िया मर गई है, कोई उसे कन्धा देनेवाला नहीं मिलता। कोई किसी मित्र से मिलने गया हुआ है, कोई नशे में चूर पड़ा हुआ है, कोई मित्रों की दावत कर रहा है, कोई महफ़िल सजाये बैठा है। कोई लाश को उठानेवाला नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रिय उस चमारिन की लाश कैसे छुयेंगे, उनका तो धर्म भ्रष्ट होता है, कोई तैयार नहीं होता। बड़ी मुशकिल से दो कहार मिले हैं। एक मैं हूँ, चौथे आदमी की कमी थी, सो ईश्वर ने तुम्हें भेज दिया। चलो चलें।

'हाय ! अगर मैं जानता कि यह प्यारे मनहर का आदेश है, तो आज मेरी आत्मा को इतनी ग्लानि न होती। मेरे घर कई मित्र आये हुए थे। गाना हो रहा था। उस वक्त लाश उठाकर नदी जाना मुझे अप्रिय लगा। बोला—इस वक्त तो भाई मैं नहीं जा सकूँगा। घर पर मेहमान बैठे हुए हैं। मैं तुम्हें बुलाने आया था।

'मनहर ने मेरी ओर तिरस्कार के नेत्रों से देखकर कहा—

अच्छी बात है, तुम जाओ; मैं और कोई साथी खोज लूँगा। मगर तुमसे मुझे ऐसी आशा नहीं थी। तुमने भी वही कहा, जो तुमसे पहले औरों ने कहा था। कोई नई बात नहीं थी। अगर हम लोग अपने कर्तव्य को भूल न गये होते, तो आज यह दशा ही क्यों होती। ऐसी होली को धिक्कार है! त्योहार-तमाशा देखने, अच्छी-अच्छी चीज़ें खाने और अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने का नाम नहीं है। यह व्रत है, तप है, अपने भाइयों से प्रेम और सहानुभूति करना ही त्योहारों का ख़ास मतलब है। और कपड़े लाल करने के पहले खून को लाल कर लो। सुफ़ेद खून पर यह लाली शोभा नहीं देती।

'यह कह वह चला गया। मुझे उस वक़्त यह फटकार बहुत बुरी मालूम हुई। अगर मुझमें वह सेवा-भाव न था, तो उसे मुझे यों धिक्कारने का कोई अधिकार न था। घर चला आया; पर वह बातें बराबर मेरे कानों में गूँजती रहीं। होली का सारा मज़ा बिगड़ गया।

'एक महीने तक हम दोनो से मुलाक़ात न हुई। कालेज इम्तहान की तैयारी के लिए बन्द हो गया था। इसीलिए कालेज में भी भेंट न होती थी। मुझे कुछ ख़बर नहीं, वह कब और कैसे बीमार पड़ा, कब अपने घर गया। सहसा एक दिन मुझे उसका एक पत्र मिला। हाय! उस पत्र को पढ़कर आज भी छाती फटने लगती है।'

श्रीविलास एक क्षण तक गला रुक जाने के कारण बोल न सके। फिर बोले—किसी दिन तुम्हें फिर दिखाऊँगा। लिखा था, मुझसे आखिरी बार मिल जाओ, अब शायद इस जीवन में भेंट न हो। खत मेरे हाथ से छूटकर गिर पड़ा। उसका घर मेरठ के जिले में था। दूसरी गाड़ी जाने में आध घण्टे की कसर थी। तुरन्त चल पड़ा। मगर उसके दर्शन न बदे थे। मेरे पहुँ-

चने के पहले ही वह सिधार चुका था। चम्पा, उसके ब
होली नहीं खेली। होली ही नहीं और सभी त्योहार छोड़
ईश्वर ने शायद मुझे क्रिया की शक्ति नहीं दी। अब बहुत
हूँ कि कोई मुझसे सेवा का काम ले। खुद आगे नहीं बढ़
लेकिन पीछे चलने को तैयार हूँ। पर मुझसे कोई काम
वाला भी नहीं; लेकिन आज यह रंग डालकर तुमने मु
धिक्कार की याद दिला दी। ईश्वर मुझे ऐसी शक्ति दे कि
में ही नहीं, कर्म में भी मनहरन बनूँ।

यह कहते हुए श्रीविलास ने तश्तरी से गुलाल निकाल
उस चित्र पर छिड़ककर प्रणाम किया।

Lati. long.
Tides. Seasons of
oceans, temporal
rain falls
